आर्थिक सुस्ती या पस्ती ?

वैकासिक मॉडल के फलितार्थों से फ़ौरी ग़लतियों तक

परिसंवाद / आर्थिक संकट पर एकाग्र

अरुण कुमार

देविंदर शर्मा

टी.के. अरुण

अनिल शर्मा

आदित्य निगम

प्रतिलेखन : कंचन शर्मा

भारतीय राजनीति और सार्वजनिक जीवन में आर्थिक प्रश्न तेज़ी से केंद्रीयता ग्रहण करता जा रहा है। सत्ताधारियों की कोशिश है कि 'राजनीतिक' को 'आर्थिक' से अलग रखा जाए, ताकि आर्थिक संकट की चुनावी अभिव्यक्तियों को प्रबंधित किया जा सके। लेकिन अब इस प्रकार की प्रबंधमूलक चतुराई बहुत देर तक सफल होती हुई नहीं लग रही है। पूरा देश एक बहुआयामी प्रश्न का सामना कर रहा है कि मौजूदा आर्थिक संकट का स्वरूप क्या है, उसके कारण क्या हैं? क्या यह संकट मुख्य रूप से संरचनात्मक और दीर्घकालीन है, या ग्लोबल है, या पिछले छह साल में अपनाई गयी नीतियों के कारण पैदा हुआ है? हमारे आर्थिक निज़ाम के पास इस तरह के संकट से निबटने की गुंजाइशें कितनी हैं? क्या इस समय अर्थव्यवस्था सुस्त रफ़्तार से होने वाली वृद्धि के दौर से गुज़र रही है, या पस्ती के दौर से जिसमें वृद्धि की दर नकारात्मक हो जाती है? अर्थात् यह 'स्लोडाउन' है या 'रिशेसन'? काले धन का चुनावों से क्या ताल्लुक़ है? असंगठित क्षेत्र और संगठित क्षेत्र का समीकरण किस प्रकार का है? क्या व्यवस्था ग़रीबों की आमदनी को गोलबंद करके नियोक्लासिकल आर्थिक निज़ाम के हाथों में थमा देना चाहती है? क्या भारतीय पूँजीपतियों, उनकी औद्योगिक परियोजनाओं और उसके उत्पाद का अंतर्संबंध एक विकृत संबंध है? नोटबंदी और जीएसटी का बढ़ती बेरोज़गारी से क्या रिश्ता है? इन संगीन सवालों पर चर्चा करने के लिए *प्रतिमान* ने विख्यात अर्थशास्त्री और काले धन की अर्थव्यवस्था के विशेषज्ञ अरुण कुमार, खेतिहर मामलों पर गहरी पकड़ रखने वाले देविंदर शर्मा, वरिष्ठ आर्थिक पत्रकार टी.के. अरुण और इंस्टीट्यूट ऑफ़ कॉस्ट एकाउंटेंट के चेयरमैन अनिल शर्मा को निमंत्रित किया। चर्चा का संचालन राजनीतिक सिद्धांतकार आदित्य निगम ने किया।

आदित्य निगमः अगर हम चाहें तो मौजूदा आर्थिक संकट के दीर्घकालीन संरचनागत पहलुओं पर नज़र डाल कर चर्चा की शुरुआत कर सकते हैं। इन बातों के बारे में हम पहले से कुछ जानते भी हैं। इसमें कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो पिछली कांग्रेस सरकार (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) के ज़माने से चली आ रही हैं। नव-उदारतावाद के दौर में तक़रीबन यह मान लिया गया था कि आर्थिक नीति का काम बीस करोड़ के बाज़ार की ज़रूरतें पूरी करना ही है। ज़ाहिर है कि इस तरह के आर्थिक निज़ाम की अपनी सीमा थी। अगर आप आज़ादी के बाद 70-80 फ़ीसदी जनता को बाहर रख कर योजना बनाते हैं तो उससे क्या निकलता है, यह अपने आप में एक सवाल है। फ़िलहाल मैं इसमें नहीं जाना चाहता। बेहतर होगा कि हम अपनी बातचीत पिछले कुछ सालों के अंदर जो हुआ है, उस पर केंद्रित करें। हाँ, यह ज़रूर है कि किसी को अगर दीर्घकालीन पहलुओं पर ग़ौर करना है, तो मैं उस पर बंदिश नहीं लगा सकता। दरअसल, मैं जिस बात को उठाना चाह रहा हूँ, वह पिछले कुछ सालों का नतीजा है।

दिलचस्प बात यह है कि कल मनमोहन सिंह का *द हिंदू* में एक लेख आया 'फ़ाउंटेन हेड ऑफ़ इंडियन इकॉनॉमिक क्राइसिस'। इस लेख में बड़ी दिलचस्प बातें हैं। जैसे, पिछले 15 साल में हम सबसे कम कुल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के दौर में हैं, बेरोज़गारी सबसे ऊँची दर पर पहुँच चुकी है, घरेलू उपभोग पिछले चालीस साल में सबसे कम हो चुका है। लेख में बैंक के क़र्ज़ों की स्थिति पर

'पिछले 15 साल में हम सबसे कम कुल घरेलू उत्पाद के दौर में हैं, बेरोज़गारी सबसे ऊँची दर पर पहुँच चुकी है, घरेलू उपभोग पिछले चालीस साल में सबसे कम हो चुका है। ... संस्थाओं पर जो यक़ीन था, वह नीचे आ चुका है। अर्थव्यवस्था में उद्यमियों को जैसा प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल रहा है। अर्थव्यवस्था बढ़ाने के लिए जिस तरीक़े की ज़रूरत है, मौजूदा निज़ाम उस पर स्पष्ट नहीं है। इस निज़ाम के अपने सोचने के तौर-तरीक़े हैं।'

भी चर्चा है। बुनियादी बात यह है कि मनमोहन सिंह हमारी अर्थव्यवस्था के मौजूदा हालात की नब्ज़ पर हाथ रखते हैं। संस्थाओं पर जो यक़ीन था, वह नीचे आ चुका है। अर्थव्यवस्था में उद्यमियों को जैसा प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल रहा है। अर्थव्यवस्था बढ़ाने के लिए जिस तरीक़े की ज़रूरत है, मौजूदा निज़ाम उस पर स्पष्ट नहीं है। इस निज़ाम के अपने सोचने के तौर-तरीक़े हैं। जो भी हो, अभी इस बात पर नहीं जाएँगे। बाद की बातचीत में हो सकता है कि यह पहलू आये।

फ़िलहाल मैं तीन-चार मुद्दों पर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहला सवाल बेरोज़गारी का है। एक मायने में दुनिया भर में माना जा रहा है कि पूँजीवाद में सबको रोज़गार देना सम्भव नहीं है, इसलिए यूनिवर्सल बेसिक इनकम (सार्वभौम बुनियादी आय) पर ज़ोर-शोर से बात चल रही है। जो लोग यह मान कर चलते थे कि 'फ्री लंच' जैसी कोई चीज़ नहीं होती, अब वही लोग मुकम्मल आमदनी तक देने को तैयार हैं। अब इसमें एक सवाल पैदा होता है। दो चीज़ें हैं। एक तो यह जो मनमोहन सिंह ने उस वक़्त कही थी कि न्याय बहुत ज़रूरी है। नोटबंदी के बाद लोगों के हाथ से जो पैसा निकला, उसे लोगों के पास दुबारा लाने की ज़रूरत है। दरअसल, एक स्तर पर जीएसटी का भी समुदाय संबंधी असर था। कई छोटे दस्तकार या उन जैसे दूसरों पर काफ़ी असर पड़ा है। एक तो ये मसला है जो सीधे-सीधे नोटबंदी, जीएसटी और बेरोज़गारी से जुड़ा है। दूसरा है संरचनात्मक बेरोज़गारी का, जो पहले से चली आ रही है। इसके लिए भी आज सोचा जाना चाहिए कि ऐसे क्या तरीक़े हो सकते हैं जो सरकार को अपनाने चाहिए।

पिछले साल शायद इन लोगों ने रिडिस्ट्रीब्यूशन टैक्स की चर्चा की थी, पर उस पर बात आगे नहीं बढ़ी। कुल मिला कर बहुत से काम जानबूझ कर किये जा रहे हैं। कुछ लोगों का मानना है कि नोटबंदी का अपने आप में केवल आर्थिक तर्क नहीं है, उसके अपने कुछ राजनीतिक पहलू भी हैं। तो पहले मैं आपके सामने यह मुद्दा रखता हूँ कि बेरोज़गारी के दोनों पहलुओं— संरचनात्मक दीर्घकालीन और दूसरी फ़ौरी क़िस्म की बेरोज़गारी को, जो पिछले कुछ सालों में फैली है, कैसे समझा जा सकता है।

अरुण कुमार : चलिए, तो रोज़गार की बात से शुरू करते हैं। पहले देखना यह चाहिए कि अर्थव्यवस्था के दो हिस्से हैं। पहला संगठित क्षेत्र और दूसरा असंगठित क्षेत्र। ज़्यादातर निवेश— तक़रीबन अस्सी प्रतिशत तक संगठित क्षेत्र में होता है, और आर्थिक सर्वेक्षण के आँकड़े देखें तो इससे केवल छह प्रतिशत रोज़गार पैदा होता है। यानी असंगठित क्षेत्र से 94 प्रतिशत रोज़गार पैदा होता है। राज्यसभा में एक सवाल पूछा गया था जिसके जवाब से यह निकल कर आया कि कुल उत्पादन में असंगठित क्षेत्र का 45 प्रतिशत और संगठित क्षेत्र का 55 प्रतिशत योगदान होता है। तो ये जो अलग-अलग हिस्से हैं, इसके बीच में एक बड़ा अंतर पैदा हो गया है, और यह शुरू से चला आ रहा है। संगठित क्षेत्र में रोज़गार भी कम है, और अब उत्पादन भी कम होता जा रहा है।

नोटबंदी किस आधार पर की गयी थी? आम जनता मानती है और राजनेता भी मानते हैं कि ब्लैक का मतलब है नक़दी। सरकार ने वायदा किया था कि जितना पैसा बाहर है, वह अगर आ जाएगा तो हर किसी को 15-15 लाख मिल जाएँगे। यह बात बार-बार कही गयी। अर्थक्रांति वाले भी कह रहे थे कि नोटबंदी की जाए, बैंकिंग ट्रांजेक्शन पर टैक्स लगाया जाए। यहाँ वायदा-ख़िलाफ़ी की गयी। सरकार को लगा कि नोटबंदी करेंगे, बैंक ट्रांसफ़र करेंगे, तो कुल मिला कर असर होगा। माहौल बनाया गया कि काला धन ज़ब्त कर लेने से ये काले धन वाले दूसरों के बराबर आ जाएँगे। जनता ने इस पर विश्वास किया। लेकिन इसका असर क्या हुआ? दरअसल, इसका असर काले धन की वापसी में नहीं दिखा। वजह यह थी कि कैश तो ब्लैक मनी का केवल एक फ़ीसदी से कम ही होता है। अगर आप सारा काला धन निकाल भी लेते तो भी वह तीन-चार लाख करोड़ ही होता। जैसा रिज़र्व बैंक के आँकड़ों से पता चला है कि 99.2 फ़ीसदी कैश वापस आ गया, सिर्फ़ दस हज़ार करोड़ नहीं आया। तो आप काला धन नहीं निकाल पाए, वह पुराने नोटों से नये नोटों में बदल गया। इस तरह, ब्लैक मनी के दूसरे ज़रिये पहले की तरह क़ायम रहे।

मैं इस मुद्दे पर पहले भी काफ़ी लिख चुका हूँ कि यह प्रक्रिया कैसे चलती है। काले धन की कमाई एक प्रक्रिया के तहत चलती है। यहाँ भी काले धन को सफ़ेद करने के कई नये तरीक़े निकाले गये। अगर मैं डॉक्टर हूँ, रोज़ 50 मरीज़ देखता हूँ, तो 30 से ली गयी फ़ीस खाते में लिखता हूँ, बाक़ी 20 की नहीं। तो ब्लैक मनी इस अंडर इनवॉयसिंग और ओवर इनवॉयसिंग से बनती है बिज़नेस में। ब्लैक इनकम जेनरेट होती है। यह प्रक्रिया नोटबंदी से प्रभावित नहीं होती। यानी नोटबंदी का न तो काली सम्पत्ति पर असर पड़ा, और न ही काले धन का उत्पादन रुका।

तो इसका असर ब्लैक इकॉनॉमी पर नहीं हुआ, आतंकवाद पर नहीं हुआ, फ़र्ज़ी करेंसी पर नहीं हुआ। लेकिन राजनीतिक फ़ायदा यह हुआ कि जनता ने विश्वास कर लिया कि ग़रीब-अमीर एक लाइन में आ गये। जबकि वह बात सच नहीं थी। लेकिन जनता ने विश्वास किया, जिसका फ़ायदा इस सरकार को मिला। लेकिन उसका आर्थिक पहलू है। ग़ौरतलब है कि असंगठित क्षेत्र नक़दी से ही चलता है। वह बैंक के ज़रिये, इलेक्ट्रॉनिक फ़ॉर्म में नहीं पड़ता। हमें देखना चाहिए कि कैश की भूमिका क्या होती है। असल में, उसका काम इनकम को सरकुलेट करना होता है। मैंने आपको कुछ भुगतान किया, इसके बदले आपने मुझे कोई सेवा प्रदान की। आपने आगे किसी को दिया, उससे लिया। कैश को कोई खाता नहीं है, वह केवल सरकुलेट होता है। वह अर्थव्यवस्था के सारे हिस्सों को तंदुरुस्त रखता है। ख़ून की कमी हो जाए तो शरीर ढह जाता है। कैश की कमी के कारण असंगठित क्षेत्र भी इसी तरह ढह गया, और जब असंगठित क्षेत्र ढहा तो उसका असर रोज़गार पर पड़ा। नतीजतन लोगों को शहर छोड़ कर गाँव जाना पड़ा। उसका सबूत मिलता है मनरेगा पर हुए ख़र्चे में। उसमें ज़बर्दस्त उछाल आया। गाँव गये, पर वहाँ काम नहीं था। इस स्कीम के तहत आबंटन था 38 हज़ार करोड़ का, पर ख़र्च हुआ 47 हज़ार करोड़ रुपये। अगले साल 47 हज़ार करोड़ रुपये का आबंटन था,

पर ख़र्च 55 हज़ार करोड़ हुआ। फिर वह ख़र्च 60 हज़ार करोड़ तक पहुँच गया। लोग शहर वापस नहीं आये। रिज़र्व बैंक की रिपोर्ट बताती है कि अभी भी सौ दिन के बजाय केवल 45 दिन का काम मिल रहा है।

दूसरी बात यह है कि जब निवेश का भट्ठा बैठ गया तो उत्पादन भी बुरी तरह गिरा। सेंटर फ़ॉर द मॉनिटरिंग द इंडियन इकॉनॉमी (सीएमआईई) के आँकड़े बताते हैं कि उस चौथाई में जो निवेश था, वह पिछली आठ चौथाइयों के औसत निवेश का आधा हो गया। जो निवेश ढाई लाख करोड़ का था वह गिर कर 1.36 लाख करोड़ हो गया। इसे मैं अर्थव्यवस्था की सुस्ती न मान कर मंदी वाली स्थिति मानता हूँ। इसकी वजह है। असंगठित क्षेत्र के आँकड़े पाँच साल में एक बार आते हैं। उसके बीच मान लिया जाता है कि असंगठित क्षेत्र उसी रफ़्तार से बढ़ रहा है, जिस रफ़्तार से संगठित क्षेत्र बढ़ रहा है। यह बात नोटबंदी के पहले ठीक थी, पर उसके बाद नहीं, क्योंकि संगठित क्षेत्र बढ़ रहा था और असंगठित क्षेत्र गिर रहा था। नोटबंदी के बाद हमारी वृद्धि दर नकारात्मक हो गयी। उससे हम सँभल भी नहीं पाए थे कि जीएसटी लागू हो गया। अब जीएसटी में हमने असंगठित क्षेत्र को बाहर रखा है। अगर आपका 40 लाख तक का टर्नओवर है तो जीएसटी नहीं देना है। अगर डेढ़ करोड़ तक का है तो कंपोजिशन स्कीम में रखा है। इसमें एक प्रतिशत टैक्स है। तो एक तरह से असंगठित क्षेत्र को जीएसटी से बाहर रखा गया। लेकिन इससे आपको इनपुट क्रेडिट नहीं मिलता। यह नहीं मिलने का अर्थ है आपकी लागत बढ़ गयी। आप इनपुट क्रेडिट उसको नहीं दे सकते, जिसको माल बेच रहे हैं। यानी उसकी लागत बढ़ गयी। इसीलिए माँग असंगठित क्षेत्र से संगठित क्षेत्र में चली गयी। तो जैसे कि प्रेशर कुकर उद्योग के चेयरमैन जगन्नाथन ने एक बयान दिया कि हमारी डिमाण्ड बहुत तेज़ी से बदली है, क्योंकि असंगठित क्षेत्र वालों की डिमाण्ड घटी है क्योंकि वे जीएसटी के साथ तालमेल नहीं बैठा पा रहे हैं। असंगठित क्षेत्र से संगठित क्षेत्र में माँग बढ़ी, तो उसको फ़ायदा हुआ। लेकिन, असंगठित क्षेत्र गिरता रहा।

इसे मैं अर्थव्यवस्था की सुस्ती न मान कर मंदी वाली स्थिति मानता हूँ। इसकी वजह है। जो असंगठित क्षेत्र है उसके आँकड़े पाँच साल में एक बार आते हैं। उसके बीच मान लिया जाता है कि असंगठित क्षेत्र उसी रफ़्तार से बढ़ रहा है, जिस रफ़्तार से संगठित क्षेत्र बढ़ रहा है। यह बात नोटबंदी के पहले ठीक थी, पर उसके बाद नहीं, क्योंकि संगठित क्षेत्र बढ़ रहा था और असंगठित क्षेत्र गिर रहा था। नोटबंदी के बाद हमारी वृद्धि दर नकारात्मक हो गयी। उससे हम सम्भल भी नहीं पाए थे कि जीएसटी लागू हो गया। ... असंगठित क्षेत्र वालों की माँग घटी है। क्योंकि, वे जीएसटी के साथ तालमेल नहीं बैठा पा रहे हैं।

फिर तीसरा संकट 2018 में आया, जब नॉन बैंकिंग फ़ाइनेंशियल कम्पनीज़ (एनबीएफ़सी) संकट में फँसीं। वहाँ से क़र्ज़ वग़ैरह मिलते हैं। इस तरह, ये जो तीन बड़े झटके लगे हैं, उनसे असंगठित क्षेत्र धराशाई हो गया। संक्षेप में कहें तो वृद्धि के दो दायरों— संगठित और असंगठित क्षेत्र में असंगठित क्षेत्र तभी से गिर रहा है। इस प्रकार, वृद्धि-दर पाँच या आठ न हो कर एक फ़ीसदी के क़रीब पहुँच गयी थी। आज यह नकारात्मक हो चुकी है। तो इतनी मंदी है हमारी अर्थव्यवस्था में। और यह जाने का नाम नहीं ले रही है। इससे हमारे उपभोग की दर गिर रही है, और निवेश-दर बढ़ नहीं रही है। अगर पाँच या आठ प्रतिशत की रफ़्तार से अर्थव्यवस्था बढ़ रही होती तो निवेश-दर भी बढ़ती और उपभोग भी बढ़ता। तो उपभोग का गिरना, और निवेश का गिरना लगातार जारी है। बेरोज़गारी और कृषि की समस्या के पीछे यही नकारात्मक वृद्धि है, क्योंकि माँग बुनियादी तौर पर असंगठित क्षेत्र से ही आएगी जहाँ 94

फ़ीसदी रोज़गार है। वहाँ से चल कर यह समस्या कृषि में भी आ गयी, वहाँ भी आमदनी गिर गयी तो उससे समस्या और बढ़ गयी। तो, मेरा मानना है नोटबंदी और जीएसटी से जो सिलसिला शुरू हुआ उससे वृद्धि का द्विभाजन और तेज़ हो गया। समस्या हल इसलिए नहीं हो रहीं क्योंकि सरकार का सारा ध्यान संगठित क्षेत्र पर है। वह कह रही है कि हम डिजिटाइज़ेशन करेंगे, इनफ़ॉर्मल को फ़ॉर्मल कर देंगे। इससे असंगठित क्षेत्र की समस्या और बढ़ती है। दरअसल, सरकार के दिमाग में कुछ ऐसा है कि असंगठित क्षेत्र ही काले धन का स्रोत है। जबकि मेरा मानना है कि वह औपचारिक क्षेत्र में ही पैदा होता है। अनौपचारिक क्षेत्र की आमदनी ज़्यादातर टैक्स-सीमा के नीचे होती है। तो, यह क्षेत्र अपनी आय बताए या न बताए, वह काला धन नहीं होता। अर्थात, काले धन की समस्या औपचारिक क्षेत्र की है, जो डिजिटाइज़ेशन से हल नहीं हो पाएगी। उससे परेशानी और बढ़ जाती है। सरकार का पूरा ध्यान औपचारिक क्षेत्र और औपचारीकरण पर है, लेकिन उससे कुछ हल नहीं होने वाला। समाधान असंगठित क्षेत्र की आय बढ़ाने से निकलेगा। चाहे कृषि का क्षेत्र हो, या ग़ैर-कृषि का, ध्यान असंगठित क्षेत्र पर होना चाहिए। अभी भी आप देखेंगे कि बजट के बाद जो घबराहट हुई, एक के बाद एक घोषणा हुई, वह क़रीब-क़रीब औपचारिक क्षेत्र के लिए थी। चाहे वह कॉरपोरेट सेक्टर के लिए दिया गया 1.45 लाख करोड़ का पैकेज हो, या रियल एस्टेट का पैकेज हो! एक या दो करोड़ के घर के लिए छूट दी जा रही है, लेकिन उसे अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति नहीं ख़रीदेगा। वह तो सोलह लाख का घर भी नहीं ख़रीद पाएगा। वह तो भारत में उच्च-मध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय व्यक्ति ही ख़रीद सकता है। सरकार का ध्यान अभी भी औपचारिक क्षेत्र और कॉरपोरेट क्षेत्र की ही तरफ़ है। उससे माँग में इज़ाफ़ा नहीं होगा। चूँकि उद्योगों की स्थापित क्षमता का पहले से ही उपयोग नहीं हो पा रहा है, इसलिए निवेश कम है। यही कारण है कि सरकार के पास राजकोषीय गुंजाइश बहुत कम है। राजकोषीय घाटा पहले ही नौ फ़ीसदी के आस पास था, अभी 1.76 लाख करोड़ रिज़र्व बैंक से लिया। उसके बावजूद मेरा मानना है कि राजकोषीय घाटा 11 फ़ीसदी के क़रीब पहुँच रहा है। इस तरह, सरकार के पास राजकोषीय दायरे में दख़ल करने की कोई गुंज़ाइश नहीं है। अगर उसे यह राजकोषीय गुंजाइश (फ़िस्कल स्पेस) बढ़ानी थी तो दो-ढाई लाख कॉरपोरेट सेक्टर को न दे कर असंगठित क्षेत्र पर ख़र्च करती ताकि उससे माँग में उछाल आता। उसने राजकोषीय घाटा बढ़ा दिया, पर इससे माँग में कोई वृद्धि नहीं हुई। मेरा मानना है कि सारा ज़ोर औपचारिकीकरण और औपचारिक क्षेत्र पर है। असंगठित क्षेत्र को हाशिये पर डाला जा रहा है। जब तक यह हाशिये पर रहेगा तब तक समाधान नहीं होने वाला। सरकार की राजनीतिक समझ कुछ ऐसी ही है। पहले तो वे मान ही नहीं रहे थे कि अर्थव्यवस्था संकट में है। जब दबाव पड़ने लगा तो समझ में आया कि जिसे वे दुनिया की सबसे तेज़ गति से बढ़ती अर्थव्यवस्था कह रहे थे, वह संकट में है। तो दो साल तो सच्चाई को स्वीकार करने में ही निकल गये। अब तीसरे साल कुछ करना शुरू किया है तो सारी रियायतें कॉरपोरेट सेक्टर के हाथ में दे दीं। तो, मेरा मानना है कि यह राजनीतिक समझ बहुत कमज़ोर है।

टी.के. अरुण : अभी जो अरुणजी ने असंगठित क्षेत्र के बारे में कहा, उससे मैं ज़्यादातर सहमत हूँ। सिर्फ़ जीएसटी के बारे में कहना चाहूँगा कि हमारे अनौपचारिक क्षेत्र में जो उत्पादन होता है, उसकी लाभकारिता का एक अहम आधार यह है कि उसे टैक्स नहीं देना पड़ता। टैक्स औपचारिक क्षेत्र देता है। अनौपचारिक क्षेत्र में बहुत कम उद्यमी टैक्स देते हैं। अगर उनको टैक्स देना पड़ता है तो उनकी लाभ-दर कम हो जाती है। उस तरह के कई उत्पादन, जो टैक्स न देने के कारण लाभ कमाने की स्थिति में रहते थे, उनकी लाभकारिता ख़त्म हो गयी। लेकिन अगर औपचारीकरण ठीक से होता तो उनको कुछ फ़ायदा मिल सकता था क्योंकि उससे उन्हें पूँजी जमा

करने में सुविधा होती। पर, हमारे अनौपचारिक क्षेत्र के उद्यमियों को पूँजी जमा करने के लिए काफ़ी पराक्रम करना पड़ता है। बैंक से उन्हें बहुत कम पैसा मिलता है। उन्हें अपनी ज़रूरत का क़रीब पंद्रह फ़ीसदी पैसा ही बैंक से मिल पाता है। उनका बाक़ी पैसा मुथूट फाइनेंस, अन्य सूदख़ोरों, दोस्तो, रिश्तेदारों या काला धन रखने वाले सीए जैसे अनौपचारिक स्रोतों से आता है। और यह पैसा उन्हें बहुत ज़्यादा ब्याज पर मिलता है।

अगर ये छोटे उद्यमी अपना उत्पादन किसी बड़ी फ़ैक्ट्री को दे देते हैं, यानी उपभोक्ता सामग्री नहीं बनाते हैं, बड़ी कम्पनी की सप्लाई चेन के अंग बन जाते हैं, तो फिर उन्हें बड़ी कम्पनी को उधार देना पड़ता है। ऐसी सूरत में उन्हें पाँच महीने के बाद भुगतान मिलता है। तब तक स्थिति यह होगी कि उधार में पैसा लिया है, उत्पादन किया है, बेचा है, पर पैसा नहीं मिला। यानी अगर जीएसटी आने के बाद औपचारीकरण ठीक से हुआ होता और औपचारिक क्षेत्र की वित्तीय व्यवस्था का स्पर्श इन लोगों को भी मिलता, तो उन्हें भी कम ब्याज पर पैसा मिल सकता था। तब उन्हें ज़्यादा ब्याज से निजात मिल सकती थी। लेकिन, उन्हें यह फ़ायदा भी नहीं मिला। इसी से संबंधित दूसरी समस्या उन कम्पनियों की है जो पहले कम टैक्स देती थीं, पर जीएसटी के कारण उन्हें ज़्यादा टैक्स देना पड़ रहा है। इस संबंध में ऑटो कम्पोनेंट बनाने वाली कम्पनियों का उदाहरण दिया जा सकता है। पहले वे 18 फ़ीसदी उत्पाद शुल्क देती थीं, पर अब उन्हें 28 फ़ीसदी देना पड़ रहा है। कम्पोनेंट सप्लाई करने वाली इन कम्पनियों को टैक्स देने के लिए भी पैसा उधार लेना पड़ रहा है। अब वे अतिरिक्त टैक्स का बोझ उठाती हैं, आयकर जमा करती हैं। जीएसटी की वजह से जिस-जिस उत्पादन पर टैक्स बढ़ गया, उसे बनाने वाले छोटे उत्पादक और व्यापारी को उसका भुगतान करने के लिए अतिरिक्त पैसा उधार लेना पड़ा। उन्हें यह उधार लागत पूँजी या चालू पूँजी के लिए नहीं, बल्कि टैक्स देने के लिए लेना पड़ा। इसे सरकार छोड़ सकती थी। लेकिन सरकार ने ऐसा नहीं किया। सरकार का यह रवैया बेहद असंवेदशील है।

लेकिन, रोज़गार के विषय में मेरा मानना कुछ अलग है। मैं रोज़गार को ख़ुशहाली का सही सूचक नहीं मानता। कारण यह है कि हमारी अर्थव्यवस्था किसी तरह से जीवन-निर्वाह करने वाले लोगों की अर्थव्यवस्था है। इसी लिहाज़ से मैं कहता हूँ कि जीवन-निर्वाह के हाशिये पर रखने वाला रोज़गार ख़ुशहाली का अच्छा सूचक नहीं हो सकता। केरल और तमिलनाडु ख़ासे ख़ुशहाल राज्य हैं जहाँ का समाज बेरोज़गारी को एक सीमा तक पचा सकता है, इसलिए वहाँ बेरोज़गारी स्तर ऊँचा रहा करता था। बीस से चौबीस फ़ीसदी रहता था, जबकि बिहार और ओडीशा में इसका स्तर तीन-चार फ़ीसदी था। इससे बात यह निकल कर आती है कि जहाँ बेरोज़गारी की दर कम होगी, वहाँ ख़ुशहाली मानी जाएगी। तीन-चार फ़ीसदी की बेरोज़गारी की दर और जीवन-निर्वाह के किनारे खड़ी अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी का मतलब है मौत। इसलिए ऐसी जगहों पर लोग ऐसे-ऐसे काम करते हैं जिन्हें सम्मानजनक नहीं माना जा सकता। दरअसल, बेरोज़गारी के आँकड़े उस समय मदद करते हैं जब हम अर्थव्यवस्था की दिशा में परिवर्तन को भाँपने की कोशिश कर रहे हों। लेकिन, उन्हें ख़ुशहाली का सूचक मानना उचित नहीं है।

लेकिन, एक पहलू पर मेरा नज़रिया अरुण कुमार से अलग है। सरकार ने औपचारिक क्षेत्र के लिए जिस रियायत की पेशकश की है उसका फ़ायदा अनौपचारिक क्षेत्र को भी मिल सकता है। मसलन, भवन-निर्माण उद्योग को कुछ मदद दी गयी है। मेरे ख़याल से इसका कोई ख़ास असर नहीं होने वाला है। लेकिन, अगर इस क्षेत्र का संकट दुरुस्त हो जाता है तो सहयोगी उद्यमों के दायरे में माँग का परिदृश्य बेहतर हो सकता है। इससे कारपेंटर, मिस्त्री, फ़र्नीचर, पेंट और इमारती काम आदि करने वाले मज़दूरों की माँग में वृद्धि हो सकती है। कुल मिलाकर इसका बड़ा फ़ायदा अनौपचारिक क्षेत्र को ही मिलेगा। 2008 से 2014 के बीच पहली बार छह साल तक लगातार हमारे ग्रामीण क्षेत्र

में मज़दूरी बढ़ी थी। मैं यह नहीं मानता कि यह बढ़ोतरी मनरेगा की वजह से या रोज़गार की गारंटी के कारण हुई। यह इसलिए हुआ कि भवन-निर्माण का काम तेज़ी से बढ़ रहा था, और मज़दूर कृषि से भवन-निर्माण की तरफ़ जा रहे थे। समझने की बात है कि पहली बार 2011-12 में कृषि-क्षेत्र में श्रम-शक्ति की हिस्सेदारी घटी। वह पचास फ़ीसदी से कम हो गयी। इसकी वजह यह थी कि इमारती काम का क्षेत्र अकुशल मज़दूरों को बड़े पैमाने पर अपनी ओर खींच रहा था। इससे न केवल इमारती काम के क्षेत्र में मज़दूरी बढ़ी, बल्कि इसका सकारात्मक असर खेतिहर मज़दूरी पर भी पड़ा क्योंकि वहाँ मज़दूरों की कमी हो गयी थी। अगर इमारती काम का क्षेत्र फिर से उठ पाया तो इस तरह का फ़ायदा मज़दूर को ही होगा, छोटे उद्योगों को होगा और उसका कुछ असर अर्थव्यवस्था पर भी पड़ेगा। लेकिन इस मामले में सरकार के प्रयास संतोष करने लायक़ नहीं हैं। इसी के साथ मेरा ख़याल है कि कॉरपोरेट टैक्स में कटौती करने का कोई फ़ायदा नहीं होने वाला है। लेकिन, रीयल एस्टेट को क़र्ज़ देने का निर्णय निश्चित रूप से लाभकारी होगा। पहले उन्होंने एक मूर्खतापूर्ण शर्त रखी थी कि प्रोजेक्ट 60 फ़ीसदी पूरा होना चाहिए और उसे एनपीए (नॉन परफ़ॉर्मिंग एसेट) भी नहीं बनना चाहिए। अगर एनपीए भी नहीं है, और साठ फ़ीसदी पूरा भी है, तो क़र्ज़ बैंक से ही मिल जाता! इसके लिए अलग से स्कीम लाने की क्या ज़रूरत थी? ख़ैर, अब वह शर्त ख़त्म कर दी गयी है। पर, अभी भी कुछ शर्तें हैं, इसलिए, इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता कि इसका कुल असर कितना होगा। मेरे ख़याल में हमें एक बात और समझनी चाहिए। हमारे देश में कुल घरेलू उत्पाद के अनुपात के तौर पर बैंक क़र्ज़ बहुत कम है। जबकि, किसी भी सामान्य बाज़ार अर्थव्यवस्था में कुल घरेलू उत्पाद के अनुपात के तौर पर बैंक- क़र्ज़ सौ फ़ीसदी से अधिक होता है। भारत में बैंक-क़र्ज़ का पचास फ़ीसदी निजी क्षेत्र को, और बीस फ़ीसदी सरकार को मिलता है। लेकिन मैं नहीं मानता कि हमारी अर्थव्यवस्था कुछ ख़ास तरह की है जो बिना क्रेडिट के चल रही है। बात केवल यह है कि यहाँ बैंक से क़र्ज़ नहीं मिलता। हम परम्परागत स्रोतों से क़र्ज़ उठाते हैं। हमारे यहाँ साहूकार हैं, महाजन हैं, जिनका काम ही पैसा देना है। हमारे यहाँ उधार देने-लेने की संस्कृति है। चार्वाक के ज़माने कहा जा रहा है कि भले ही ऋण लेना पड़े, लेकिन घी तो खाना ही है। इसलिए यह हो ही नहीं सकता कि हमारी अर्थव्यवस्था बिना क्रेडिट के चल रही हो। दरअसल, ज़्यादातर पैसा अनौपचारिक स्रोतों से उठाया जा रहा है। इसीलिए मॉनिटरी पॉलिसी (मौद्रिक नीति) में किया गया हेरफेर अर्थव्यवस्था की गति पर कोई ख़ास असर नहीं डालता। जो असर होता भी है, वह बहुत कम है। सोचिए, जिसने चालीस फ़ीसदी पर रुपया उठाया है, वह रिज़र्व बैंक द्वारा घोषित आधा या एक फ़ीसदी कम-ज़्यादा से क्यों प्रभावित होगा! दूसरी बात यह है कि बचत को निवेश के साथ जोड़ने का बंदोबस्त टूट गया है। नेहरू के समय से ही बैंकों के ज़रिये आम लोगों की बचत को संगठित क्षेत्र के काम में लगाने की युक्ति का इस्तेमाल किया जा रहा था। यह था बुनियादी तरीक़ा जिससे औपचारिक क्षेत्र को पैसा मिलता रहा है। सीधे नहीं, बल्कि सरकार ने आईसीआईसीआई, आईएफ़सीआई, आईडीबीआई, यूटीआई जैसी मध्यवर्ती संस्थाएँ खड़ी कीं। इन्हें बैंकों से पैसा मिलता था। ये बॉण्ड जारी करती थीं, जिन्हें सरकार एसएलआर (स्टेटुअरी लिक्विडिटी रेशियो) के रूप में श्रेणीबद्ध करती थी। इसके मुताबिक़ हर बैंक को अपनी सम्पत्तियों का एक निश्चित अनुपात इन बॉण्डों में निवेश करना होता है। ऐसे बैंक मुख्य तौर पर सरकारी होते थे। इन्हें जारी ये संस्थाएँ करती थीं, और सरकार उन्हें अधिसूचित करती थी। यानी जनता ने बैंक में पैसे जमा किये, बैंक ने इस धन को आईसीआईसी और आईएफ़सीआई के बॉण्ड पर ख़र्च किया। इन मध्यवर्ती संस्थाओं के ज़रिये जनता का धन निजी निवेश में बदलता था। जैसे ही किसी निजी कम्पनी को उत्पादन का लाइसेंस मिलता, वैसे ही उसे इन संस्थाओं से क़र्ज़ मिलने की गारंटी हो जाती थी। उदारीकरण के बाद हुआ यह कि ये सभी संस्थाएँ ग़ायब हो गयीं। दरअसल, ऐसी तमाम संस्थाएँ बैंकों में बदल गयीं। आईएफ़सीआई अभी निष्क्रिय पड़ा हुआ है। बड़े

प्रोजेक्ट में निवेश डालने का सही तरीक़ा होना चाहिए बॉण्ड मार्केट। और बॉण्ड मार्केट तो है ही नहीं। जो कुछ है भी वह सरकारी बॉण्ड का मार्केट ही है। प्राइवेट बॉण्ड मार्केट यानी कॉरपोरेट बॉण्ड मार्केट बहुत ही छोटा है। इन्हें बैंक ख़रीदते हैं, लेकिन इनकी न्यूनतम ट्रेडिंग ही होती है। ये ख़रीदने वाले बैंकों के खातों में पड़े रहते हैं। इसका बहुत बुरा असर है।

दूसरी बात यह है कि जब नब्बे के दशक में स्टॉक मार्केट में उछाल आया तो हमारी एक्सचेंज में लिस्टेड कम्पनियों ने अपना लाभ छिपाना बंद कर दिया क्योंकि उन्हें इसमें कोई फ़ायदा ही नहीं रह गया था। पहले तो टैक्स बचाने के लिए वे आधा लाभ छिपा लेते थे। लेकिन जब स्टॉक मार्केट लहर पर सवार हुआ तो अच्छा लाभ कमाने वाली कम्पनियों में ज़्यादा निवेश बाहर से आने लगा। उनका बाज़ार में मूल्य बढ़ने लगा। मालिकों को समझ में आ गया कि लाभ न दिखाना बुरी बात है। अब लाभ दिखा कर और बाज़ार में अपनी हैसियत (वेलुएशन) बढ़ा कर वे फ़ोर्ब्स की मिलेनियर लिस्ट में प्रवेश पाने की जुगत भिड़ाने लगे। तो अब सवाल उठता है कि इस स्थिति में वे प्रोजेक्ट से पैसा कैसे निकालेंगे? उसका तरीक़ा यह है कि जब प्लांट की मशीनरी का सेटअप किया जाता है तो प्रोजेक्ट की लागत को बढ़ा कर दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए एक हज़ार मेगावाट बिजली पैदा करने के लिए चार हज़ार करोड़ का निवेश चाहिए। लेकिन हमारी इंडस्ट्री में तरीक़ा यह है कि लागत पचास फ़ीसदी बढ़ा दो। इतना बढ़ा दिया तो दो हज़ार करोड़ और मिल गया। इस प्रकार की बड़ी रक़म कम्पनी से निकाल कर अपने निजी धन में बदली जाने लगी, और उद्योगपति पैसा बनाने लगे।

लेकिन इसके लिए बैंकों को यह मानना ज़रूरी था कि प्रोजेक्ट की लागत छह करोड़ रुपये प्रति मेगावाट है। इस कुचक्र में राजनीतिक आक़ाओं की भूमिका प्रमुख थी। बैंकों पर दबाव बनाने का काम वही करते थे। इस प्रक्रिया में बैंकर को सँभालने का काम वित्त मंत्रालय के नौकरशाह करते हैं। एक छोटी-मोटी रक़म बैंकर को दे दी जाती है। लेकिन इसके दो हानिकारक असर पड़ते हैं। एक तो यह कि प्रोजेक्ट की लागत बढ़ जाती है। अब जीवीके पंजाब में विद्युत संयत्र लगाने जा रहा है जिसकी लागत प्रति मेगावाट नौ करोड़ है। इस महँगी बिजली को कैसे सप्लाई किया जाएगा? इसके लिए 'हेयर-कट' का सहारा लिया जाएगा। और प्रति मेगावाट 4-5 करोड़ पर लागत लानी पड़ेगी। सयंत्र द्वारा उत्पादित बिजली का तभी इस्तेमाल किया जा सकेगा। भारत के उद्योग चीन वग़ैरह के मुक़ाबले इसलिए भी पीछे रह जाते हैं क्योंकि यहाँ परियोजनाओं की लागत नक़ली तौर पर बढ़ाई जाती है। इससे न केवल उत्पाद की लागत बढ़ जाती है, बल्कि उद्यमी उत्पादन के प्रति भी लापरवाह हो जाता है। ज़ाहिर है कि जब प्लांट लगाने मात्र से ही उद्यमी का पैसा निकल आये तो वह उसमें दिलचस्पी क्यों लेगा! जब आपको शुरू में ही दो हज़ार करोड़ का मुनाफ़ा मिल गया, तो अब उसे कामयाबी और सक्षमता के साथ चलाने में दिमाग़ खपाने की ज़रूरत ही क्या है। पैसा कमाने

असंगठित क्षेत्र नक़दी से ही चलता है। वह बैंक के ज़रिए, इलेक्ट्रॉनिक फ़ॉर्म में काम नहीं करता। कैश की भूमिका क्या है इनकम को सरकुलेट करना। मैंने आपको कुछ भुगतान किया, आपने मुझे कोई सेवा प्रदान की। आपने आगे किसी को दिया, उससे लिया। कैश को कोई खाता नहीं है, कैश सरकुलेट होता है। यह न्यूट्रीशन प्रदान करता है सबको, अर्थव्यवस्था के सारे हिस्सों को। ख़ून की कमी हो जाए तो शरीर ढह जाता है। उसी तरह असंगठित क्षेत्र कैश की कमी से ढह गया। और जब असंगठित क्षेत्र ढहा, तो उसका असर पड़ा रोज़गार पर, और लोगों को शहर से गाँव जाना पड़ा।

का यह तरीक़ा उद्यमशीलता को हतोत्साहित करता है। जब यह सब छोटे पैमाने पर होता था, तो इसका इतना बुरा असर नहीं पड़ता था। पहला प्रोजेक्ट मेहनत के साथ किया जाता था। दूसरे की लागत में कुछ कृत्रिम बढ़ोतरी की जाती थी ताकि पहला प्रोजेक्ट पूरा किया जा सके। दूसरे और तीसरे क़र्ज़ की कोशिशें की जाती थीं ताकि पहले क़र्ज़ को चुकाया जा सके। जब तक दूसरा क़र्ज़ मिलता था तब तक पहले से मुनाफ़ा होने लगता था, और इस तरह दूसरा और तीसरा प्रोजेक्ट शुरू करने की हालत बन जाती थी।

हमारी इंडस्ट्री इसी तरह चल रही थी। लेकिन जब वित्तीय संकट आया, तो इस चक्र में विघ्न पड़ गया। फिर छोटे-छोटे प्रोजेक्टों के बजाय बड़े-बड़े दसियों हज़ार करोड़ के मेगा प्रोजेक्टों की बात होने लगी। जब ये प्रोजेक्ट बीच में रुक गये तो उसका अर्थव्यवस्था पर ज़बर्दस्त असर हुआ। बैंकों के नॉन परफ़ॉर्मिंग एसेट्स बढ़ते रहे। रघुराम राजन ने बैंकों को अपने बही-खाते दुरुस्त करने को मजबूर किया। अगर ऐसा न किया गया होता तो हो सकता है कि ऐसा ही चलता रहता। क़र्ज़ों को एवरग्रीन किया जाता रहता। हज़ारों करोड़ के क़र्ज़ लिए जाते थे ताकि ब्याज दे कर नॉन परफ़ार्मिंग एसेट बनने से बचा जा सके। एसडीआईएल, यस बैंक, आईएलएफ़एस, दीवान हाउसिंग वग़ैरह सरकुलर लैंडिंग करते थे। यह कुछ इस तरह होता था कि एक का क़र्ज़ या ब्याज चुकाने के लिए दूसरे से लोन ले लिया, और दूसरे का क़र्ज़ चुकाने के लिए तीसरे से पैसा उठा लिया। इस तरह लोन की रक़म बढ़ने के बावजूद सभी एसेट्स काम करते रहते थे क्योंकि, कोई भी डिफ़ॉल्ट करते हुए नहीं दिखता था। लेकिन कभी न कभी तो वह मुक़ाम आना ही था जब आपको क़र्ज़ चुकाना पड़ता। भारत में यही चक्कर है। दरअसल, एक सक्षम बॉण्ड मार्केट के बिना बड़े प्रोजेक्टों के लिए वित्त-पोषण नहीं किया जा सकता। बैंकों की क़र्ज़ देने की क्षमता ख़त्म हो चुकी है। अगर क़र्ज़ देते भी हैं, तो उसमें भी विश्वास की कमी होती है। पैसा इसलिए दे रहे हैं कि बैंकर को कुछ खिला दिया गया है, या इसलिए दे रहे हैं कि प्रोजेक्ट सक्षम नहीं है। इस चक्कर में सीबीआई की जाँच बैठ सकती है। इसलिए कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता। बैंकों द्वारा क़र्ज़ देने की प्रक्रिया इसी कारण पूरी तरह से ठप हो गयी है। सरकार ने भी बड़े निवेशों के लिए पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप (पीपीपी) की शुरुआत नहीं की है। भारत में यह समस्या शुरू से रही है कि उद्योगपतियों को बड़े प्रोजेक्टों के लिए पूँजी प्राप्त नहीं हो पाती। इस मामले में वे सदैव सरकार के मुखापेक्षी रहे हैं। लेकिन, 2000 से सरकार ने पीपीपी की शुरुआत की। इसके तहत सरकार द्वारा निजी उद्यमियों को ज़मीन और अन्य सुविधाएँ मुहैया कराने का प्रावधान है। जैसे, कोई हवाई अड्डा बनना है, या फिर दिल्ली-आगरा जैसा एक्सप्रेस-वे बनना है, तो सरकार उसके लिए ज़मीन अधिग्रहण करने में भूमिका निभाएगी। यह अच्छा तरीक़ा है। इसके तहत साठ फ़ीसदी परियोजनाएँ तो कामयाब रही, लेकिन चालीस फ़ीसदी नाकाम हो गयी। इस समस्या को हल करना ज़रूरी है। चूँकि जनता की बचत को निजी क्षेत्र में निवेश करने का मॉडल नाकाम हो गया है, और बैंक अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निभा पा रहे हैं, साथ में नॉन-बैंकिंग फ़ाइनेंस कम्पनियों (एनबीएफ़सी) से मिलने वाले अल्पावधि ऋण भी अपने आप में निवेश का सक्षम बंदोबस्त नहीं हैं। इसलिए, यह मानने में कोई हर्ज़ नहीं है कि यह समस्या गहरी है। एनबीएफ़सी बैंकों, ज़मीन में निवेश और म्युचुअल फ़ंडों से अल्पावधि ऋण लेते हैं,और आगे क़र्ज़ पर अस्थायी पूँजी मुहैया कराते हैं। पर इन्हें पक्का बंदोबस्त नहीं माना जा सकता। अब इस तरह के वित्त-पोषण का चक्र भंग हो गया है। यह हमारे वित्तीय बाज़ार की समस्या है कि इस स्थिति में कम्पनियों के दिवालियापन की परिस्थितियाँ बन जाती हैं। इससे पता चलता है कि बाज़ार में माँग की कमी का एक तार वित्तीय क्षेत्र से भी जुड़ा है। अगर इससे निजात पानी है तो कॉरपोरेट बॉण्ड का बेहतर और सक्रिय बाज़ार विकसित करना पड़ेगा। उस सूरत में चार करोड़ प्रति मेगावाट को छह करोड़ मेगावाट दिखाना मुश्किल होगा, क्योंकि वहाँ किसी बैंक की लैंडिंग कमेटी को संतुष्ट करने का खेल नहीं होगा। निजी क्षेत्र में इस

तरह से बढ़ती लागत का मूल्यांकन करने की क्षमता है। वहाँ रेटिंग एजेंसियों, म्युचुअल फ़ंडों और बीमा कम्पनियों की सकारात्मक भूमिका सामने आती है क्योंकि वे किसी प्रोजेक्ट में पैसा लगाने से पहले उसका ठोस मूल्यांकन करती हैं।

यहीं यह भी समझने की ज़रूरत है कि बढ़ी हुई लागत के प्रोजेक्टों की समस्या हमारे तंत्र को क्यों परेशान कर रही है। इसका संबंध हमारी राजनीतिक प्रणाली से है। लोगबाग लोकतंत्र पर गर्व तो ख़ूब करते हैं, पर कोई यह नहीं पूछता कि राजनीतिक दल के पास दस हज़ार करोड़ रुपया कहाँ से आता है? ब्रिटेन की लेबर पार्टी साफ़ तौर पर कहती है कि उसका 70 फ़ीसदी ख़र्च ट्रेड यूनियनों से और तीस फ़ीसदी निजी स्रोतों से प्राप्त होता है। इसके उलट भारत में राजनीतिक दलों के खाते में काला धन जमा रहता है। चूँकि उद्योगों को राजनेताओं और नौकरशाहों की जेबें भरनी होती है, इसलिए उन्हें भी अपनी परियोजनाओं की लागत बढ़ानी पड़ती है। अगर किसी को अफ़्रीका में या किसी और जगह कम्पनी ख़रीदनी है, तो वहाँ भी लागत बढ़ा कर संबंधित किक-बैक (रिश्वत) का बंदोबस्त करना होता है। इस लिहाज़ से देखा जाए तो विदेशी कम्पनियों को ख़रीदने की प्रक्रिया हमेशा संदिग्ध होती है। लेकिन, इसके पीछे नेताओं, पार्टियों और नौकरशाहों की जेब भरने का दबाव भी रहता है। अगर राजनीतिक फ़ंडिंग पारदर्शी हो जाए तो राजनेता उद्यमियों द्वारा लागत बढ़ाने के खेल पर नियंत्रण लगा सकते हैं। इसे एक उदाहरण के ज़रिये भी समझा जा सकता है। 2014 के चुनाव से पहले अडानी के ख़िलाफ़ संप्रग सरकार ने एक जाँच शुरू की थी। अडानी महाराष्ट्र में एक विद्युत संयंत्र स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने तय किया कि वे टरबाइन दुबई की एक कम्पनी से ख़रीदेंगे। दुबई से ही क्यों, चीन से क्यों नहीं? दरअसल, दुबई की कम्पनी अडानी की ही थी। टरबाइन चीन से ही ख़रीदी गयी। उसे दुबई की कम्पनी द्वारा ढाई सौ फ़ीसदी के मार्जिन पर सप्लाई किया गया क्योंकि अडानी को किसी की चुनाव मुहिम में पैसा लगाना था। इस उदाहरण से पता लगता है कि अगर राजनीतिक फ़ंडिंग दुरुस्त कर दी जाए तो निवेश की समस्या का दूरगामी हल ढूँढ़ा जा सकता है।

देविंदर शर्मा : मैं पहले दो बातें रखना चाहता हूँ। मुझे याद है कि 1996 में मैं स्वामीनाथन रिसर्च फ़ाउंडेशन के साथ काम करता था। एक कॉन्फ्रेंस में वर्ल्ड बैंक के वाइस प्रेसीडेंट ने एक बात कही थी। अपनी प्रस्तुति में उन्होंने बताया था कि विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार भारत में अगले बीस साल में यानी 2005 तक इतने लोग देहात छोड़ कर शहर में बस जाएँगे जिनकी संख्या ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस की कुल आबादी यानी बीस करोड़ से भी दुगुनी होगी। इसका मतलब यह हुआ कि 2005 तक क़रीब चालीस करोड़ लोग गाँव छोड़ कर शहर जा चुके होंगे। कई साल तक मैं सोचता रहा कि विश्व बैंक के उपाध्यक्ष शायद हमें चेतावनी दे रहे हैं ताकि हम इस पलायन को रोकने के लिए सही क़दम उठाएँ। पर, फिर मुझे समझ आया कि नहीं, यह तो हमें दिया जाने वाला निर्देश था। जब 2008 में मैंने विश्व बैंक की रिपोर्ट देखी तो उसमें साफ़ लफ़्ज़ों में कहा गया था कि आपको जो काम दिया गया था आपने नहीं किया। इसलिए अब इस प्रक्रिया को फटाफट पूरा कीजिए। आख़िर, ज़मीन एक उत्पादक सम्पत्ति है, इसलिए इसे अकुशल लोगों यानी किसानों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। यानी ज़मीन से खेतिहर लोगों को बेदख़ल करना होगा— भूमि अधिग्रहण और दूसरे तरीक़ों के ज़रिये। फिर उन्होंने कहा कि अगर युवा लोग कृषि से जुड़े हैं और उन्हें खेती के अलावा कुछ नहीं आता तो आपको उन्हें प्रशिक्षण देना है ताकि वे बेहतर औद्योगिक मजदूर बन सके। इसके लिए प्रशिक्षण संस्थान खोले जाएँ। यह 2008 की विश्व बैंक डिवेलपमेंट रपट है।

2009 के बजट में तत्कालीन वित्त मंत्री ने एक हज़ार आईटीआई का प्रावधान किया। तो इसका मतलब साफ़ है कि विश्व बैंक ने निर्देश दिया और हमने उसे लागू किया। वही हम हमेशा से करते

आये हैं। हमारी आर्थिक नीति यही है कि गाँव से लोगों को शहरों की तरफ़ भेजो। दूसरी बात मैं ये देखता हूँ कि मनमोहन सिंह जब 2004-05 में प्रधानमंत्री बने तो यह प्रचार शुरू हुआ कि कुल घरेलू उत्पादन (जीडीपी) में वृद्धि का मतलब रोज़गार का सृजन होता है। यह एक भ्रामक तर्क था। उनका कहना था, पर मैं नहीं जानता कि जीडीपी के विचार से हम इतने क्यों बँधे रहे। दस साल में जब संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार रही, कुल डेढ़ करोड़ नौकरियाँ पैदा हुईं। जबकि लोगों को हर साल एक करोड़ बीस लाख नौकरी चाहिए। यानी बारह करोड़ नौकरियों की ज़रूरत के मुक़ाबले केवल पाँच करोड़ नौकरियाँ पैदा की गयीं। जबकि उस समय जीडीपी का स्तर तक़रीबन 8 या 9 फ़ीसदी पर था। फिर क्या हुआ? जब भी हम लोग यह बात उठाते थे तो कहा जाता था कि आप विकास विरोधी हैं। जब तक जीडीपी नहीं बढ़ेगा, तब तक नौकरियाँ पैदा नहीं होंगी। अब कम से कम कुछ समझ आया है कि जीडीपी बढ़ने से नौकरी नहीं बढ़ती, बल्कि कम भी हो जाती हैं।

प्रधानमंत्री के तौर पर मनमोहन सिंह ने एक बार कहा था कि हमारे पास 70 फ़ीसदी बेशी किसान हैं, हमें उनको निकाल कर शहर में लाना है। मैंने सुना कि चिदम्बरम साहब ने भी यही कहा। अभी रघुराम राजन ने, जब वे रिज़र्व बैंक के गवर्नर थे, एक इंटरव्यू में कहा था कि बिग टिकट रिफ़ॉर्म (संरचनात्मक बदलाव) तो तब होंगे जब हम सस्ते श्रम की आपूर्ति के लिए किसानों को खेती से निकाल कर शहर में ले आएँगे! इसका मतलब आपकी नीति किसानों को निकाल कर दिहाड़ी मज़दूर बनाने की है। अगर दिहाड़ी मज़दूर बनाना रोज़गार पैदा करना है, तो मुझे लगता है इसे समूचे इकॉनॉमिक मॉडल पर सवाल खड़े करने की ज़रूरत है। इस लिहाज़ से इस देश या दुनिया का संकट इसी ग़लत आर्थिक नीति के कारण है। मैं इसे त्रुटिपूर्ण इसलिए कह रहा हूँ कि अब हमारे देश में भी कई लोग मानने लगे हैं कि जीडीपी बढ़ने से नौकरियाँ नहीं बढ़तीं। बल्कि लोगों की नौकरियाँ जाती हैं। अभी हमने पीछे यह देखा है। मैं तो कहता हूँ कि आप 40 करोड़ लोगों को भी, जो विश्व बैंक ने कहा था, भेज पाते हैं शहरों में, तो उनका होगा क्या? वहाँ भी कहाँ हैं नौकरियाँ? क्या होगा उनका भविष्य? रोज़गार देने का क्या तरीक़ा है हमारे देश में? जब नौकरियाँ ही नहीं है तो कैसे मिलेगा रोज़गार? 2004 और 2005 के आँकड़े तो मुझे यही बताते हैं। दरअसल, इसका मतलब यह है कि हम अभी भी पाठ्यपुस्तकीय अर्थशास्त्र से चल रहे हैं। समस्या यह है कि हम इस पुस्तकीय कूढ़मग़जता से निकलने को तैयार ही नहीं हैं। हमारे देश में मुख्यधारा के जितने भी बड़े अर्थशास्त्री हैं उन्हें कम्प्यूटर टर्मिनल के अलावा कुछ मालूम नहीं है। यदि आप उनसे पूछें कि पंजाब में गिद्दरवाल या बटाला कहाँ हैं तो वे जगहें उन्होंने देखी भी नहीं होंगी। उनको कुछ नहीं पता कि खेती में कैसे काम होता है, किसानों का क्या हिसाब होता है। पिछले साल रिपोर्ट आती है कि यूपी में एक किसान ने आत्महत्या कर ली। उस पर 30 हज़ार रुपये का क़र्ज़ बक़ाया था। अगर तीस हज़ार रुपये पर किसान आत्महत्या कर सकता है, तो ये साफ़ है कि हमने कृषि को किस तरह से ग़ुरबत में रख रखा है! हमें समझना चाहिए कि आर्थिक सुधार का मतलब यही था कि कृषि की बलि चढ़ाओ। अगर खेती को तबाह नहीं किया जाएगा तो आर्थिक सुधार टिकाऊ नहीं होंगे। इन सुधारों के लिए कृषि की दो ही भूमिकाएँ हैं। उसे सस्ता भोजन उपलब्ध कराना है ताकि मज़दूरों का काम चलता रहे, और उद्योगों को सस्ता कच्चा माल उपलब्ध होता रहे। अगर आपके कच्चे माल की लागत बढ़ जाती है, जैसा कि टी.के. अरुण ने बताया किस तरह परियोजनाओं की लागत बढ़ाई जाती है, तो आर्थिक सुधार का पूरा कार्यक्रम धराशायी हो जाता है। इसी तरह जब मुद्रास्फीति बढ़ती है तो भी सुधारों का चक्का जाम हो जाता है। हमें इस धारणा को गहरायी से समझना पड़ेगा।

मुझे याद है 1983 की एक बात याद आ रही है। उस साल पोलैंड के ट्रेड यूनियन नेता लेक वालेसा को शांति नोबेल प्राइज़ मिला था। उस समय मैं *इंडियन एक्सप्रेस* में पत्रकार था और खेती से संबंधित मामलों की रिपोर्टिंग करता था। इसी हैसियत से मेरी मुलाक़ात नॉर्मन बोरलॉग से हुई थी

जिन्हें दुनिया में हरित क्रांति का पितामह माना जाता है और वे भी शांति के नोबेल विजेता थे। वे उस समय भारत के दौरे पर पंत नगर आये थे। मैं उनसे मिला और यूँ ही बात-बात में पूछा कि इस बार वालेसा को नोबेल पुरस्कार मिला है इस पर आपका क्या रुख़ है ? जैसा कि आपको पता ही है कि वालेसा सोलिडरिटी मूवमेंट से जुड़े थे, बोरलॉग ने कहा कि उन्हें ख़ुशी हुई है यह सवाल सुन कर। फिर उन्होंने बताया कि नोबेल कमेटी ने एक टीम यह जाँचने के लिए बनाई थी कि वालेसा पुरस्कार के योग्य हैं या नहीं। बोरलॉग उस कमेटी के अध्यक्ष थे। उस समय वालेसा पोलैंड के सबसे बड़े ट्रेड यूनियन लीडर थे। बोरलॉग की टीम ने निर्णय दिया कि वालेसा पुरस्कार पाने लायक़ नहीं है। मैंने पूछा कि आपने जब ऐसी रपट दी तो फिर उन्हें नोबेल कैसे मिला ? तो उनका जवाब था कि वालेसा को एक मुख्यधारा की इकॉनॉमिक थिंकिंग के कारण पुरस्कार मिला। मैंने पूछा कौन-सी थिंकिंग ? इस पर उन्होंने बताया कि जब मैं पोलैंड गया तो मुझे पता चला कि वालेसा मज़दूरों के लिए सस्ते खाद्यान्न के लिए संघर्ष कर रहे हैं, और उन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं है कि अगर खाना सस्ता कर दिया जाएगा तो उसे पैदा करने वाले लाखों-लाख किसानों का क्या होगा। बोरलॉग और उनकी टीम ने सलाह दी कि वालेसा एक वर्ग को दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर रहे हैं, इसलिए उन्हें नोबेल नहीं मिलना चाहिए। लेकिन, पुरस्कार उन्हीं को मिला क्योंकि मुख्यधारा का आर्थिक विचार यही है कि सुधारों की कामयाबी खाद्यान्न के दाम कम रखने पर निर्भर करती है। अगर उसके दाम बढ़े तो सुधार फेल हो जाते हैं। हम इतने सालों से देख रहे हैं कि कृषि को एक सोची-समझी योजना के तहत वंचित रखा जाता है ताकि आर्थिक सुधार कामयाब होते रहें। किसी भी हालत में मुद्रास्फीति को सिर नहीं उठाने देना है। फिर चाहे भारत हो, यूरोप हो, अमेरिका हो या कहीं और हो। इसके उलट हम उन असंख्य किसानों को भूल जाते हैं जो इस खाद्यान्न का उत्पादन करने के लिए खटते रहते हैं।

एक हज़ार मेगावाट बिजली पैदा करने की क्षमता कायम करने के लिए चार हज़ार करोड़ का निवेश चाहिए। लेकिन हमारी इंडस्ट्री में तरीक़ा यह है कि लागत पचास फ़ीसदी बढ़ा दो। इतना बढ़ा दिया तो दो हज़ार करोड़ मिल गया। इस प्रकार की बड़ी रकम कम्पनी से निकाल कर अपने निजी धन में बदली जाने लगी। इस तरीक़े से उद्योगपति पैसा बनाने लगे। लेकिन इसके लिए बैंकों को यह मानना ज़रूरी था कि प्रोजेक्ट की लागत छह करोड़ रुपये प्रति मेगावाट है। इसका तरीक़ा यही निकला कि बैंकों को नियंत्रित करने वाले राजनीतिक आक़ा उनसे ऐसा करने के लिए कहते हैं।

यह है हमारी नीति। इस ख़ास परिस्थिति में जब मैं प्रतिदिन अख़बार पढ़ता हूँ तो उसमें माहौल बनाया जाता है, दलीलें दी जाती हैं कि किसानों को मिलने वाले दाम तो और कम होने चाहिए। एपीएमसी यानी एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट कमेटी को ख़त्म कर देना चाहिए। किसानों को पूरी तरह बाज़ार के ऊपर छोड़ देना चाहिए। प्रोफ़ेसर अरुण कुमार ने शुरू में ठीक कहा कि 94 फ़ीसदी अनौपचारिक क्षेत्र है। इस अनौपचारिक क्षेत्र का हाल देखिए। कहा जाता है कि किसानों को जो दाम मिलना चाहिए उसमें एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट कमेटी ही बाधा है। मण्डियाँ इसी एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट कमेटी एक्ट के तहत बनाई गयी थीं। ये ज़्यादातर पंजाब और हरियाणा में हैं, या कुछ पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हैं। दरअसल, ये वहाँ-वहाँ हैं जहाँ हरित क्रांति का प्रभाव है। आरोप लगाया जाता है कि इन मण्डियों ने इजारेदारी बनाई हुई है। इससे सही मूल्य का (प्राइस डिस्कवरी) का पता नहीं लग

पाता। आप शब्द देखिए, क्या प्रयोग करते हैं प्राइस डिस्कवरी! कहा जाता है कि प्राइस डिस्कवरी के लिए इन मण्डियों को तोड़ दीजिए। यह सारा दबाव इसी के लिए बनाया जा रहा है। हमारे देश के जो मुख्य अर्थशास्त्री हैं, बड़े-बड़े पदों पर बैठे हैं, वे इसी तरह के सुझाव देते हैं। मानो ये मण्डियाँ ही ग्रामीण भारत की समृद्धि के आड़े आ रही हैं। लेकिन, लोगों को असलियत का एहसास नहीं है। आप नहीं जानते कि सारे देश में सिर्फ़ छह फ़ीसदी किसानों को ही न्यूनतम समर्थन मूल्य मिलता है। 94 फ़ीसदी किसान बाज़ार पर निर्भर करते हैं। अगर बाज़ार इतना ही अच्छा होता, तो देश में कृषि का यह हाल नहीं होता, जो आज है। अगर बाज़ार अच्छे होते तो किसान समर्थन मूल्य की लड़ाई नहीं लड़ रहे होते। तो, पूरा फ़ोकस इस बात पर है कि एपीएमसी को हटा दीजिए ताकि किसानों का और ज़्यादा दोहन किया जा सके तथा खाद्यान्न को और सस्ता किया जा सके।

ई-नैम यानी नैशनल एग्रीकल्चर मार्केट क्या है? एक बार अरुण जेटली ने कहा था कि यह स्पॉट-ट्रेडिंग की दिशा में पहला क़दम है। यह पूरा खेल कॉरपोरेट एग्रीकल्चर के लिए किया जा रहा है। हम इसी दिशा में बढ़ रहे हैं। लेकिन, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि खेती के क्षेत्र में साठ करोड़ किसान आते हैं। जनसंख्या का लगभग आधा भाग! 2016 के आर्थिक सर्वेक्षण में बताया गया है कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएसओ) की गणना के अनुसार भारत के 17 राज्यों यानी आधे देश में एक औसत किसान परिवार की आमदनी केवल बीस हज़ार रुपये प्रति वर्ष है। मतलब एक किसान परिवार की मासिक औसत आय 1700 रुपये से कम है। अगर मैं एक गाय रखता हूँ तो इस आय में किसान वह भी नहीं पाल सकता। क्या हमें इस पर सचमुच ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि एक किसान परिवार जीवित कैसे रहता है। इसमें दिलचस्प यह है कि एनएसएसओ के आँकड़ों की यह गणना एक अलग आधार पर की गयी है। आम तौर पर आप बाज़ार में जो बेचते हैं, उससे होने वाली आमदनी ही आपकी आय होती है। यहाँ बाज़ार में बेच कर की गयी आय, और परिवार और अपने के उपभोग के लिए बचाई गयी आमदनी को भी आय में जोड़ दिया गया है। इन दोनों पहलुओं को मिला कर आधे देश के औसत किसान परिवार की आमदनी केवल बीस हज़ार रुपये प्रति साल बैठती है।

हम सोचते थे कि जब लोगों को इस सच्चाई का पता चलेगा तो वे ग़ुस्से से भर उठेंगे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। किसी को चिंता नहीं हुई। किसी अख़बार ने कुछ नहीं लिखा। किसी ने मामूली फ़िक्र भी नहीं की। लेकिन, अगर आज अम्बानी को कुछ हो जाता है तो हंगामा हो जाएगा। सोचिये कि जब सीसीडी (कैफ़े कॉफ़ी डे) वाला आत्महत्या कर लेता है तो उसे कितना कवरेज दिया जाता है। 1995 से 2015 तक तीन लाख तीस हज़ार किसान मर चुके हैं। पर यह ख़बर कोई नहीं दिखाता। अभी जो रपट आयी वह 2016 की थी, लेकिन वह आयी 2019 में क्योंकि सरकार इन तथ्यों पर लीपापोती करना चाहती है। करना चाहिए भी क्योंकि आर्थिक प्रदर्शन के लिए आत्महत्याएँ बुरा संकेत मानी जाती हैं। तो उसको कम करने की कोशिश हो रही है। पर इसे कितना कम किया जा सकता है? जैसे एक कहावत है, बिल्ली को देख कर कबूतर आँखें बंद कर लेता है, सोचता है कि ख़तरा टल गया। लेकिन ख़तरा जाता तो नहीं न। आप आँखें बंद कर लो, रिपोर्ट को मत छापो, इससे संकट ख़त्म नहीं होगा।

दूसरा, अभी इनकम के मामले में एक नैरेटिव चल रहा है। अभी ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ इकॉनॉमिक कोआपरेशन ऐंड डिवेलपमेंट (ओईसीडी) और युरोपियन कम्युनिकेशन रिसर्च ऐंड ऐजुकेशन एसोसिएशन (ईसीआरईए) की एक रिपोर्ट आयी है। यह रिपोर्ट कहती है कि 2000 से 2016-17 के बीच में किसानों ने पैंतालीस लाख करोड़ रुपये का नुक़सान झेला। 45 लाख करोड़ का नुक़सान किसानों को इन 16 सालों में। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ, प्रोफ़ेसर अरुण कुमार और टी.के. अरुण भी सहमत होंगे कि अगर 45 लाख करोड़ रुपये का नुक़सान उद्योगपतियों को हुआ होता देश की अर्थव्यवस्था बैठ गयी होती। लेकिन किसी ने सम्पादकीय नहीं लिखा, किसी ने इतने ज़बर्दस्त नुक़सान की चर्चा भी नहीं की। हाँ, शायद केवल एक ने लिखा। मैंने पढ़ा था। किसानों की जेब 45

लाख करोड़ निकल जाता है पर हम सवाल तक नहीं उठाते। मैं कहना यह चाहता हूँ कि कहीं न कहीं यह हमारे त्रुटिपूर्ण आर्थिक सोच का नतीजा है। इसी कारण खेती मरती जा रही है, और विषमता व अन्याय बढ़ता जा रहा है।

अब इसमें और क्या देखना चाहिए? अभी एनआईटीआई आयोग की एक रिपोर्ट आयी। वह कहती है कि 2011-12 और 2015-16, पाँच साल के काल में, प्रति वर्ष वास्तविक आमदनी की वृद्धि-दर आधा फ़ीसदी से भी कम रही। ये इस आयोग की रिपोर्ट है, उसकी सही-सही आँकड़ा है 0.4 प्रतिशत। उसके बाद 2016-17 और 2017-18 के लिए आयोग कहता है कि वास्तविक आमदनी की बढ़ोतरी खेतिहर क्षेत्र में तक़रीबन शून्य हो गयी। 2019 का हाल तो हमें मालूम ही है। यानी पिछले दस साल में किसान की आमदनी ज़ीरो रही है। चलिए, ये तो 2000 से 2019-20 तक हो गया। अब उससे पहले देखिए। युनाइटेड नेशंस कॉन्फ्रेंस ऑन ट्रेड ऐंड डिवेलपमेंट (यूएनसीटीएडी) की रिपोर्ट कहती है कि आठवें दशक के मध्य से लेकर 2000 तक और 1985 से लेकर 2005 के बीच दुनिया भर के किसानों की आमदनी जड़ता की शिकार रही। यह पिछले बीस सालों का लेखा-जोखा है। अगले बीस साल की रपट आपने देख ही ली। ओईसीडी और ईसीआरईए के मुताबिक़ किसानों को 45 लाख करोड़ का नुक़सान हुआ है। चार दशकों से किसानों की आय वहीं की वहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि हमारे कॉरपोरेट सरबराहों की आमदनी वहीं की वहीं जाम हो जाए। मैं देखना चाहूँगा कि वे कैसे गुज़र-बसर करते हैं। दरअसल, हमारा देश अमीर उद्योगपतियों और बीमार उद्योगों का देश है। हमने जितनी सब्सिडी कॉरपोरेट जगत को दी है, वह हटा दी जाए तो वे धराशायी हो जाएँगे। कॉरपोरेट तो सब्सिडी से ही तरक़्क़ी करते हैं। यह सब ग़लत आर्थिक मॉडल के कारण है। ताज्जुब होता है कि देश में ये चल क्या रहा है। हमारे मुख्य आर्थिक सलाहकार अरविंद सुब्रह्मण्यम कहते हैं कि एक कॉरपोरेट क़र्ज़ को बट्टे खाते में डालने से आर्थिक वृद्धि होती है। अरुधंति भट्टाचार्य कहती हैं कि किसानों का क़र्ज़ माफ़ करने से ऋण संबंधी अनुशासनहीनता और असंतुलन पैदा होता है। उर्जित पटेल कहते हैं कि इससे बैलेंस शीट गड़बड़ा जाती है।

मतलब, किसानों का क़र्ज़ माफ़ करना देश के लिए ख़तरा हो जाता है। लेकिन कॉरपोरेट का माफ़ करने से अर्थव्यवस्था चंगी हो जाती है। देखिये तो, ग्रोथ और डिवेलपमेंट का यह क्या मॉडल है। आख़िरकार किसान और पूँजीपति एक ही बैंक से लोन लेते हैं। एक का डिफ़ाल्ट होता है तो वह जेल जाता है या आत्महत्या करता है। दूसरे का डिफ़ाल्ट होता है तो वह ऐश करता है, उसे 'हेयर कट' दिया जाता है। मैं एक युनिवर्सिटी में गया। वहाँ पूछा कि क्या आप जानते हैं यह 'हेयर कट' क्या है? वे इसका मतलब तक नहीं जानते थे। आप जानते हैं इसका मतलब क्या है? इसका मतलब है लूट की इकॉनॉमी। अभी प्रोफ़ेसर साहब ने बताया कि कॉरपोरेट सेक्टर को 1.45 लाख करोड़ की छूट दी गयी है। अगर यही 1.45 लाख करोड़ किसानों को दिया जाता तो हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में थोड़ी जान आ जाती। लेकिन, देखिए कि वह किसको दिया गया! दो-तीन दिन बाद हमने देखा कि स्टॉक एक्स्चेंज में किसे सेलिब्रेट किया गया? साफ़ है कि हमारा इकॉनॉमिक मॉडल एक ही वर्ग की सेवा करता है। और, हम सोचते हैं कि मौत के चंगुल में फँसा किसान अक्षम उत्पादक है! अब मैं किसानों की कथित अक्षमता की बात करके अपनी बात ख़त्म करता हूँ।

देखिए, तर्क दिया जाता है कि हमारे देश के किसान उत्पादन करने में समर्थ नहीं है। उत्पादकता निचले स्तर की है। अगर उत्पादकता बढ़ जाएगी तो आमदनी भी बढ़ जाएगी। महाराष्ट्र, विदर्भ या मराठवाड़ा में किसान आत्महत्या क्यों कर रहे हैं— क्योंकि उनके पास सिंचाई की व्यवस्था नहीं है। महाराष्ट्र में 18 फ़ीसदी सिंचाई व्यवस्था है। जब तक सिंचाई नहीं बढ़ेगी, तब तक उत्पादकता नहीं बढ़ेगी और इसलिए आय भी नहीं बढ़ेगी। मैं एक बार फिर कहूँगा कि यह तर्क भी बेवकूफ़ाना आर्थिक चिंतन का नतीजा है।

पंजाब में देख लीजिए। पंजाब एक ऐसा राज्य है जहाँ 98 फ़ीसदी ज़मीन पर सिंचाई की व्यवस्था है। यानी वहाँ हर खेत के लिए पानी उपलब्ध है। गेहूँ और चावल की उत्पादकता के हिसाब से पंजाब पूरी दुनिया में अहम जगह रखता है, लेकिन इसके बावजूद पंजाब इस समय किसानों की आत्महत्या का मुख्य इलाक़ा है। जब पंजाब में ऊँची उत्पादकता के सभी मानक हैं, वह दुनिया में पाँचवें नम्बर पर है तो फिर, वहाँ किसान मर क्यों रहे हैं? पंजाब में हर दिन दो-तीन किसान मरते हैं। मैंने सोचा, इसका कारण क्या है? पंजाब एग्रीकल्चर युनिवर्सिटी, पंजाब युनिवर्सिटी, लुधियाना, पटियाला, गुरु नानक देव युनिवर्सिटी अमृतसर को बोला गया सर्वेक्षण के लिए। उन्होंने 2000 से 2016 के बीच घर-घर जा कर सर्वे किया। । यह वही समय था जब ओईसीडी ने किसानों की आय से संबंधित आँकड़ा जारी किया था। उसी समय पंजाब का आँकड़ा आता है कि वहाँ 16 हज़ार 600 किसानों ने आत्महत्या की। और यह हालत उस राज्य की है जिसे कृषि में सबसे अगाड़ी राज्य माना जाता है। अभी एक किसान ने महीना भर पहले आत्महत्या की। वह 42 साल का था, तीसरी पीढ़ी का किसान था। उसके दादा और बाप ने भी आत्महत्या की थी। कितना क़र्ज़ा लिया था? आठ लाख का। उसकी तीन पीढ़ियाँ आत्महत्या करती आयी हैं। अभी एक साल पहले एक किसान ने आत्महत्या की। वह नहर में कूद गया। कूदने से पहले उसने अपने पाँच साल के बेटे को पेट से बाँधा और फिर कूदा। मैसेज छोड़ गया कि मैं जानता हूँ कि ग़लत कर रहा हूँ, पर मेरा क़र्ज़ा दस लाख रुपये है और मैं जानता हूँ मेरा बेटा सारी ज़िंदगी में दस लाख का क़र्ज़ा नहीं उतार सकेगा। ये भी क्या ज़िंदगी हुई! लेकिन अगर आप हमारा इकॉनॉमिक मॉडल देखें तो साफ़ हो जाएगा कि वह किसानों की आमदनी नहीं बढ़ाना चाहता, वह तो चाहता है कि और ज़्यादा किसान आत्महत्या करें।

किसान मरता है तो सामान्य लगता है। पर कैफ़े कॉफ़ी डे वाला मरता है तो देश में आफ़त आ जाती है। सोचिए, हर साल 12,000 किसान मर रहे हैं। अगर यह संख्या डॉक्टरों और वकीलों की होती तो सोचिए कि देश में क्या होता? 200 उद्योगपति ही मरते, दो सौ क्या, दो ही मर जाते तब देश का क्या होता? दरअसल, एक राष्ट्र के रूप में हमें इस सवाल का जवाब चाहिए कि क्या कारण है कि एक की मौत का आपको दुख नहीं होता, दूसरे की मौत पर आप इतना गम्भीर हो जाते हैं। पूरी अर्थव्यवस्था दुख में आ जाती है। मुझे लगता है कि हमें अपनी अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण मॉडल पर सोचना चाहिए। इसके ऊपर दोबारा चिंतन करना चाहिए। आर्थिक वृद्धि का यह प्रारूप बेहद त्रुटिपूर्ण है।

अनिल शर्मा : अभी हमने देश में फैली बेरोज़गारी से बात शुरू की। बहुत सारी बातें कही जा चुकी हैं। उसी में अपनी कुछ बातें व्यावहारिक दृष्टिकोण से जोड़ना चाहता हूँ। मैं प्रोफ़ेसर अरुण कुमार से सहमत हूँ। पिछले कुछ सालों में बेरोज़गारी का एक कारण नोटबंदी रही है। असंगठित क्षेत्र की नक़दी ब्लैक मनी नहीं थी। दरअसल, वह एक सिस्टम था, मुख्य सिस्टम का हिस्सा। इससे कैश को काट दिया गया। चूँकि विनिमय कैश के ज़रिये ही होता था, इसलिए या तो उत्पादन कम हो गया या बंद ही हो गया। उसके बाद बेरोज़गारी पैदा हुई। यह बेरोज़गारी का बड़ा और उल्लेखनीय कारण रहा। इसके बाद अरुणजी ने विश्लेषण किया जीएसटी को लेकर। इसके बार में मैं यह कहूँगा अभी तक जो भी बातें कही गयी हैं, वे कम हैं। जीएसटी का प्रभाव अभी और आएगा। बेरोज़गारी में और इज़ाफ़ा होगा। यह कैसे होगा इसका मैं एक उदाहरण देता हूँ। नौ अक्टूबर, 2019 को सरकार कुल जीएसटी के दायरे में नया फार्मूला लेकर आयी है। इसके तहत यह होगा कि अगर आप अनौपचारिक क्षेत्र या छोटे डीलर से माल ख़रीदते है तो बड़ी इंडस्ट्री को उससे नुक़सान होने वाला है। उससे उसको क्रेडिट नहीं मिलेगा क्योंकि छोटे डीलर को यह विकल्प दिया गया है कि वे तीन महीने में एक बार रिटर्न फ़ाइल कर सकता है। अगर वह तीन महीने में एक बार रिटर्न फ़ाइल

करेगा, और हर महीने रिटर्न फ़ाइल करने वाली बड़ी इंडस्ट्री है तो उससे माल ख़रीद कर वह क्रेडिट के लाभ से वंचित रह जाएगी। इस समस्या का सीधे-सीधे प्रभाव यह पड़ रहा है कि बड़ी इंडस्ट्री, अगर हम टाटा की बात करें, मारुति की बात करें, छोटे डीलर से माल नहीं ख़रीदने वाली है। ज़ाहिर है कि अगर वह उससे माल ख़रीदती है तो उसकी वर्किंग कैपिटल ब्लॉक होती है। उसे उसका क्रेडिट तीन महीने बाद मिलेगा। इसका कुल असर यह होने वाला है कि छोटे डीलर से कोई भी माल नहीं ख़रीदेगा। तो वह बनाएगा क्या? जब बनाएगा नहीं तो उत्पादन बंद होगा। उत्पादन बंद होगा तो जो अनौपचारिक क्षेत्र है, छोटा डीलर है, जो डेढ़ करोड़ टर्न ओवर से कम वाला डीलर है, वह माल नहीं बेच पाएगा और उसका धंधा बंद होगा। इससे बेरोज़गारी और बढ़ेगी।

दूसरे, जीएसटी के आने से बेरोज़गारी का एक और कारण यह बना कि जब हमारे देश में उत्पाद शुल्क वाला तंत्र था तब एमएसएमई (मीडियम ऐंड स्माल-मीडियम इंडस्ट्रीज़) का पूरा क्षेत्र उस शुल्क से बचा हुआ था। लेकिन जीएसटी के प्रभावी होते ही हर डीलर इस छूट के उपभोग से वंचित हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि जो एमएसएमई क्षेत्र था और जो एक्साइज ड्यूटी क़तई अदा नहीं करता था, जीएसटी के आते ही 1 जुलाई, 2017 से उसे एक्साइज़ ड्यूटी देना लाज़िमी हो गया। मैं एक उदाहरण दूँगा। अगर एमएसएमई का कोई उत्पाद 18 फ़ीसदी की स्लैब में आता है, और उसका टर्न ओवर 100 करोड़ का बनता है तो उसके ऊपर सीधे-सीधे साल का 18 करोड़ रुपये का भार आ गया। यह 18 करोड़ उसे बैंक से क़र्ज़ लेकर चुकाना है। टी.के. अरुण ने जो कहा बिल्कुल सही कहा। उसको टैक्स देने के लिए भी लोन लेना पड़ रहा है। टैक्स देने के लिए जो लोन लेना पड़ा, उसका ब्याज 12 फ़ीसदी बैठता है। वह तो बाज़ार में 3 से 4 फ़ीसदी पर खेल रहा था, जबकि वर्किंग कैपिटल पर क़र्ज़ लेते ही उसकी लागत 12 -13 फ़ीसदी बढ़ गयी, और इस कारण उसका उत्पादन अलाभकारी हो गया। नतीजतन, उसका धंधा चौपट हुआ। उससे बेरोज़गारी और पैदा हुई।

भारत के 17 राज्यों में एक औसत किसान परिवार की आमदनी केवल बीस हज़ार रुपये प्रति वर्ष है। ... मतलब एक महीने की औसत आय 1700 रुपये से कम है। ... क्या हमें ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि एक किसान परिवार जीवित कैसे रहता है। ... किसी को चिंता नहीं हुई। किसी अख़बार ने कुछ नहीं लिखा। किसी ने मामूली फ़िक्र भी नहीं की। ... कैफ़े कॉफ़ी डे वाला मरता है तो देश में आफ़त आ जाती है। 12,000 किसान मर रहे हैं हर साल। यही 12,000 डॉक्टर मरते, वकील मरते, तो देश में क्या होता? 200 उद्योगपति ही मरते, दो सौ क्या, दो ही मर जाते तब देश का क्या होता?

इसके अलावा मैं भविष्य में भी देख रहा हूँ। 1990-1991 से जितने भी बड़े प्रोजेक्ट लग रहे हैं वे भारी ऑटोमाइज़ेशन के तहत लग रहे हैं। ऑटोमाइज़ेशन से बेरोज़गारी होना लाज़िमी है। इसके ऊपर एक और परिघटना आने वाली है। वह है आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस भी बेरोज़गारी की जनक साबित होगी। मैं अकाउंट बैकग्राउंड से आता हूँ इसलिए बता सकता हूँ कि पूरे साल में हम बिज़नेस का जो भी ट्रांज़ेक्शन करते हैं, वह अपनी प्रकृति में दोहराव वाला होता है। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के तहत ये ट्रांज़ेक्शंस हमारे बही खातों में सॉफ़्टवेयर के ज़रिये अपने आप दोहराते चले जाएँगे, और उसके लिए मानवीय श्रम-शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसका बड़ा नुक़सानदेह नतीजा सामने आएगा। अगर मैं महीने में दस बार ख़रीदारी करता हूँ, तो साल में 120

ख़रीदारियाँ हो जाएँगी। यह अपने आप सॉफ़्टवेयर के ज़रिए होता चला जाएगा। ये आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस जब उद्योगों में आएगी तो निश्चित तौर पर मेरे अकाउंटेंट की नौकरी ख़त्म हो जाएगी। उससे आगे और बेरोज़गारी बढ़ेगी। इसका प्रभाव सीधे-सीधे पड़ेगा।

इसके अलावा हमें सरकार की नॉन-रिक्रूटमेंट पॉलिसी (भर्ती न करने वाली नीति) पर विचार करना चाहिए। निजी क्षेत्र तो भर्ती कर ही नहीं रहा, क्योंकि ऑटोमाइज़ेशन की वजह से उनको भर्ती चाहिए ही नहीं। सरकारी क्षेत्र में भी भर्तियाँ ठप पड़ी हुई हैं। 1994 में हम सर्विस टैक्स लाए देश में, आज वह अप्रत्यक्ष कर में 35 फ़ीसदी की भागीदारी करता है। इतना बड़ा हिस्सा सेवा कर के ज़रिये आता है, जो अब जीएसटी में भी है। लेकिन इस सबके बावजूद वित्त मंत्रालय ने इस काम के लिए भर्तियाँ ही नहीं कीं। जो लोग सेंट्रल एक्साइज में काम कर रहे थे, वे वहाँ से निकाल कर इधर फ़िट कर दिये गये। यानी सरकार की इस नॉन-रिक्रूटमेंट पॉलिसी से भी बेरोज़गारी पैदा हुई है। यह कहानी हर विभाग में है। किसी भी विभाग में देख लीजिए। मैंने एक छोटा-सा उदाहरण दिया है।

वित्त मंत्रालय के दूसरे विभागों में भी यही स्थिति है। सरकार के बाक़ी विभागों की हालत भी इससे अलग नहीं है। शिक्षा विभाग में देख लीजिए। अध्यापकों की भर्ती नहीं हो रही है। आर्मी में देख लीजिए, वहाँ भी बड़ी संख्या में पद ख़ाली पड़े हैं। नयी भर्ती नहीं हुई, पर लोग रिटायर तो हो ही रहे हैं। इससे बेरोज़गारी और बढ़ रही है। इसके अलावा, अभी देविंदर शर्मा ने कहा किसानों को अकुशल कहा जाता है, लेकिन हमारा तो उद्योग भी अकुशल लोगों से भरा है। इस अक्षमता के चलते जितने भी उत्पाद बनते हैं वो अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में अलाभकारी होते हैं। अपना एक्सपोर्ट बढ़ाने और डेटा ठीक करने के लिए उन्हें सब्सिडी दी जाती है, रिफ़ंड दिये जाते हैं। फिर भी हम उनको उस स्तर पर अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाते। दरअसल, हमारे यहाँ फ़ॉर्मल कोस्टिंग सिस्टम है ही नहीं। उद्योग के क्षेत्र में जो क़ीमत उद्योगपति या लाला बता देता है, उस पर हमें रहना होता है। उसी आधार पर सरकार सब्सिडी वग़ैरह देती है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि भारतीय उद्योगपति के लिए प्रोजेक्ट ही अपने आप में एक प्रोडक्ट है। उनका ज़ोर प्रोडक्ट पर है ही नहीं। वे प्रोजेक्ट लगाते ही इसलिए हैं कि उससे लाभ निकाला जा सके। वे उत्पाद से लाभ निकालने में यक़ीन नहीं रखते। उत्पाद को लाभ योग्य बनाना उनके बस की बात नहीं है। वे हमेशा एक कम्फ़र्ट ज़ोन में रहना चाहते हैं। जैसे ही घाटे की बात आती है, वे बैंक से लोन लेकर, अपना घाटा पूरा करके अपनी यूनिट चलाते रहते हैं।

जैसा कि टी.के. अरुण ने अभी कहा था, प्रोजेक्ट की क़ीमत अगर 50 है तो उसे 100 कर दिया जाता है। 100 करोड़ की है तो 150 कर दी जाती है। इसे हम तकनीकी भाषा में टर्म लोन बोलते हैं। आपने टर्म लोन लिया जिसमें आपने पहले ही 100 करोड़ को 150 करोड़ कर दिया, यानी आपने अपनी क़ीमत पहले ही निकाल ली। अब प्रोजेक्ट बन गया, अब मुझे चलाना है। इसके लिए वर्किंग कैपिटल चाहिए। वर्किंग कैपिटल के लिए मैं क्या करता हूँ? मान लीजिए, मैंने आज कुछ कच्चा माल ख़रीदा। उसे बनाने की प्रक्रिया बीस दिन की है। यानी 20 दिन में पूरा उत्पाद बनता है, बनने के बाद मैं उसे बाज़ार में बेच सकता हूँ। अब मैं तीस दिन का क्रेडिट माँगूँगा। तो उसका पैसा तीस दिन बाद मुझे मिलेगा। मसलन, किसी उत्पाद-चक्र में पचास दिन या साठ दिन लगते हैं तो मैं पहले ही उसे सौ दिन का बना देता हूँ। सौ दिन का उत्पाद-चक्र बनने पर मैं बैंक से वर्किंग कैपिटल के रूप में ज़्यादा रक़म निकालता हूँ। टर्म लोन में पहले ही ज़्यादा कमा लिया, और वर्किंग कैपिटल में भी यही खेल किया। पचास दिन की प्रक्रिया सौ दिन की कर दी। तो, मैं बैंक से कहता हूँ कि मेरा कच्चा माल सौ दिन में उत्पाद बनेगा, इसलिए मुझे इतने दिन की वर्किंग कैपिटल तो चाहिए ही चाहिए। यानी मैं बैंक को अपना हिसाब बढ़ा-चढ़ा कर के देता हूँ और बैंक से ज़्यादा से ज़्यादा पैसे लेता हूँ।

फिर नम्बर आता है मेरी बैलेंस शीट का। इससे लाभ-हानि तय होती है। मेरा तो पहले से तय है कि मुझे लाभ बनाना है। लाभ को फ्रीज़ करने के बाद मैं अपना बैंक केलकुलेशन करता हूँ। यह

करते-करते मेरा जो प्लस-माइनस होता है, वह आख़िर में आता है मेरी इनवेंटरी पर। चूँकि आज के समय में हमारे देश में कोस्टिंग सिस्टम जैसी कोई औपचारिक व्यवस्था मौजूद ही नहीं है इसलिए मेरी इनवेंटरी पर मुझे कोई चुनौती नहीं दे सकता। कोई मेरी इनवेंटरी, जो मैंने डिक्लेयर की है, को ग़लत नहीं ठहरा सकता। न बैंक के पास ऐसा कोई तरीक़ा है, न सरकार के पास कोई तरीक़ा है। न ही प्रोफ़ेशनल्स के पास कोई तरीक़ा है। यही कारण है कि जो बड़े-बड़े उद्योगपति, उनकी बैलेंस शीट देखिए, इनवेंटरी को देखिए, आप कुछ नहीं कर सकते। एक्साइज़ विभाग के पास, जीएसटी वालों के पास भी इसका कोई तोड़ नहीं है कि इनवेंटरी को कैसे चुनौती दें। यह चुनौती हो सकती है, केवल और केवल कोस्टिंग मैकेनिज़्म से, इसके लिए एक औपचारिक तंत्र बनाना होगा। इससे हमारा उद्योग भी लागत के प्रति सजग होगा। कोस्टिंग के जो टूल्स हैं, उनका इस्तेमाल करके हमारे उत्पाद चरण-दर-चरण लाभकारी हो सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में भी इसका लाभ हो सकता है। लेकिन हमारे यहाँ ऐसा कुछ करने की कोशिश ही नहीं होती।

अब जीएसटी पर बात हो गयी, नोटबंदी पर बात हो गयी, प्रोजेक्ट और उत्पाद के बारे में चर्चा हो गयी। हम यह भी चर्चा कर चुके हैं कि किस तरह प्रोजक्ट से ही उत्पाद निकाल लिया जाता है। बाद में कुछ करना ही नहीं पड़ता। एक प्रोजेक्ट लगाया, उसकी लागत बढ़ा कर उसमें से पैसा निकाल लिया, वह फ़ेल हो गया, अच्छी बात है, अब अगले प्रोजेक्ट के लिए चल पड़ते हैं। हेयरकट लेते हैं। यह इनसॉलवेंसी है ही इसलिए। क़ानूनन जिस कम्पनी की क़ीमत हज़ार करोड़ रुपये की है, अगर इनसॉलवेंसी कोर्ट में चले जाओ तो वह कम्पनी आपको वापस भी मिल जाएगी। कोर्ट आईपी नियुक्त कर देगा। 1000 करोड़ की कम्पनी 300 करोड़ की हो जाएगी। यह धंधा ख़ूब चल रहा है।

आदित्य निगम : मुद्दे बहुत से हो गये। हमने सोचा था कि हम अलग-अलग पहलुओं पर ग़ौर करेंगे। सहूलियत यह हो गयी है कि इस चर्चा में कई पहलू आ गये हैं। अक्सर बात से बात निकलती है। देविंदर शर्मा ने जो बड़ा मसला उठाया है, वह विकास के मॉडल से जुड़ा हुआ है। यह अपने आप में बड़ा पेचीदा सवाल है, इस पर हम बात करेंगे ही। इसमें भी हम बात करे क्योंकि प्रोफ़ेसर अरुण कुमार ने जो औपचारिक और अनौपचारिक क्षेत्रों का सवाल उठाया था, जिसके साथ कैश, कैशलेस और ब्लैक के सवाल एक निरंतरता के साथ जुड़े हुए हैं, इसमें मुझे दरअसल लगता है कि पिछले कई सालों से एक कोशिश चल रही है अनौपचारिक को औपचारिक के दायरे में लाने की। यह अर्थशास्त्र का एक चिरंतन सरोकार भी है, जिसके पीछे धारणा यह है कि जो भी अनौपचारिक है वह अतीत के पिछड़ेपन की अलामत है। उसे जब तक किसी तरह से आप ख़त्म नहीं कर देंगे तब तक आर्थिक बहबूदी नहीं होगी। जो रवैया कृषि पर बना हुआ है, वही रवैया अनौपचारिक क्षेत्र के संदर्भ में देखने को मिलता है। इसीलिए नोटबंदी के दौर में सारी चीज़ें चलती रहीं कि कैश के ख़िलाफ़ जंग करनी है और कैशलेस को बढ़ाना है, क्योंकि सारा भ्रष्टाचार कैश की वजह से है। जब नॉन-कैश ट्रांज़ेक्शंस और ऑनलाइन ट्रांज़ेक्शंस होंगे तो ज़ाहिर है आप भ्रष्टाचार नहीं कर पाएँगे। मुझे लगता है कि यह सतही क़िस्म का भ्रम पैदा करने वाला तर्क है। एक स्तर पर जो कैशलेस का तसव्वुर है, वह बुनियादी तौर पर फ़ॉर्मलाइज़ेशन का ही तसव्वुर है। वह सिर्फ़ यह नहीं है कि हमें भष्टाचार से लड़ना है। आपने सही फ़रमाया कि दरअसल जो पूरा का पूरा असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र है उसमें कैश ट्रांज़ेक्शंस के अलावा चारा ही नहीं है। वरना वह चल ही नहीं सकता। वहाँ रोज़मर्रा में कैश की ज़रूरत पड़ती है।

यह डिवेलपमेंट के मॉडल का सवाल इसी से जुड़ा हुआ है। और एक तीसरी चीज़ और है जो वित्तीय क्षेत्र से जुड़ती है। मैं चाहूँगा कि जब हम दूसरे दौर में बात करें तो थोड़ा उन पहलुओं की भी

बात करें। ये जो फाइनेंशियल इंक्लूज़न नाम की चीज़ है, कभी डायरेक्ट बैंक ट्रांसफ़र की बात की जाती है, जन-धन योजना वग़ैरह-वग़ैरह। कुल मिलाकर, दरअसल कोशिश यह है कि इस तरह से राज्य के लिए औपचारिक क्षेत्र को सक्षम बनाया जाए। पूरे अनौपचारिक क्षेत्र को औपचारिक अर्थव्यवस्था के दायरे में लाया जाए। अब इससे मुझे बिल्कुल अलग नज़रिये से ये लगता है जैसे यूपीए-1 के समय एक सलाहकार के तौर पर हर्नांदो डि सोटो को नियुक्त किया गया था। डि सोटो साब साहब पेरू के उद्योगपति और अर्थशास्त्री दोनों हैं। उन्हें विज़नरी भी माना जाता है। दुनिया भर में उनका नाम हो गया है। ग़रीबों को सम्पत्ति अधिकार देने के सवाल पर उनका बड़ा रैडिकल लगने वाला विचार ग़रीबों को प्रॉपर्टी टाइटिल मुहैया कराता है। वे ग़रीबों को सम्पत्ति का औपचारिक अधिकार दिलवाना चाहते हैं। प्रॉपर्टी टाइटिल वहाँ दे रहे हैं जहाँ एक प्रॉपर्टी का शामिलात के अधिकारों के तहत उपभोग किया जा रहा है। पहले उसे सौ लोग इस्तेमाल करते थे, अब वह किसी एक की हो जाएगी। देखने में भले ही यह रैडिकल लगे, पर उसके अपने निहितार्थ हैं। उसके नतीजे हैं बहुत ख़तरनाक हो सकते हैं। लेकिन मुझे जो सबसे ज़्यादा ख़तरनाक बात लगती है उसे मैं आप लोगों के सामने चर्चा के लिए रख रहा हूँ । डि सोटो की एक किताब है। एक ज़माने में वह बहुत मशहूर हुई। बहुत सी ग्लोबल एजेंसियों ने उसे हाथों-हाथ लिया। वह किताब थी *मिस्ट्री ऑफ़ कैपिटल- वाई कैपिटल सक्सीड्स इन वेस्ट ऐंड फ़ेल्स एवरी व्हेयर एल्स*। दरअसल, डि सोटो कमोबेश शिकागो स्कूल के लिबरल्स के बीच एक विज़नरी के रूप में स्वीकार किये जा चुके हैं और उन्होंने पूरा नज़रिया बदल कर रख दिया है। उन्होंने जो भी शोध किये पिछले कुछ सालों में उस पर आधारित उनकी किताब आयी 2000 के आसपास। उन्होंने मिस्र में, इण्डोनेशिया में, पेरू में कई तरह के वस्तुनिष्ठ सर्वे किये और यह नतीजा निकाला कि इन तमाम मुल्क़ों में झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वाले और अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वालों की आमदनी या उनकी पूँजी कैपिटल मार्केट में उपलब्ध कुल धन से अधिक है। स्टॉक एक्सचेंज में जितना पैसा घूम रहा है, उससे ज़्यादा सम्पत्ति तो ग़रीब लोग अपनी गतिविधियों के दौरान पैदा कर लेते हैं। इसे वे डेड कैपिटल मानते हैं, जिसे आगे उत्पादन के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। इसलिए उनकी कोशिश है कि उसे कैसे औपचारिक उत्पादन के दायरे में लाया जाए। यही वह मसला है जिसे फ़ाइनेंशियल इनक्लूज़न के ज़रिये साधने की कोशिश की जा रही है। डायरेक्ट ट्रांसफ़र बेनिफ़िट वग़ैरह का ताल्लुक़ भी इसी से है। आज उनके पास खिलवाड़ करने के लिए केवल हमारी बचत है। कल जब ग़रीबों का सारा संचित पैसा बैंक में आएगा तो उससे वे दूसरे खेल खेलेंगे। यह है औपचारिकीकरण की कोशिश, यह है उनके खेल का केंद्रीय पैंतरा। यह कोई इत्तेफ़ाक नहीं है कि यह सारी दुनिया में एक साथ चल रहा है। उस वक़्त जब यूपीए सरकार ने डिसोटो को अपना सलाहकार नियुक्त किया तो वे तब तक दुनिया में कई जगह अपनी धाक जमा चुके थे। इस लिहाज़ से मैं उस मॉडल के सवाल को आप लोगों की राय के लिए और खोल कर रख रहा हूँ। ज़ाहिर है कि केवल इसी पर बात करना ज़रूरी नहीं है। इसके अलावा भी और सवाल आपके ज़ेहन में होंगे। आप उस पर भी अपनी प्रतिक्रिया दे सकते हैं।

अरुण कुमार : एक बात जो हमें फ़्लैग करनी चाहिए और जिस संदर्भ में आप बोल रहे थे, उसके बारे में इशारा ऑक्सफ़ेम की रपट से मिलता है। इसके मुताबिक़ एक फ़ीसदी लोगों के पास 73 फ़ीसदी दौलत है। 99 फ़ीसदी लोगों के पास बाक़ी 27 फ़ीसदी है। इस आँकड़े में काला धन नहीं शामिल है। मेरा अनुमान है कि अगर काला धन भी मिला लें तो एक फ़ीसदी लोगों के पास 85 फ़ीसदी धन है, और इसी तरह आमदनी के लिहाज़ से देखें तो एक फ़ीसदी लोग 22 फ़ीसदी आमदनी कमाते हैं और काला धन मिला कर 40 फ़ीसदी आमदनी कमाते हैं। यह जो असमानता

है बेतहाशा बढ़ी है। भारत में तो दक्षिण अफ्रीका और ब्राज़ील से भी ज़्यादा असमानता है। वहाँ पर भी काले धन की अर्थव्यवस्था है, पर इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं है जो हमारे देश में है। साथियों ने बताया है कि कैसे ओवर इनवॉयसिंग और अंडर इनवॉयसिंग के ज़रिये यह सब होता है, चाहे शुरुआती कैपिटल सेटअप में किया जाता हो, या बाद में। काले धन पर अपनी किताब में मैंने ये सारी बातें बताई हैं। राउंड शिफ्टिंग के ज़रिये वह पैसा हमारे स्टॉक मार्केट में वापस भी आता है। हमारे बिजनेसमेन यह सब कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि हमारे देश में आज की स्थिति में बहुत से अंतर्विरोध हैं। एक तरफ़ तो सरकार कहती है कि हम सबसे ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था हैं। दूसरी तरफ़ सबसे ज़्यादा ग़रीब हमारे देश में हैं। सबसे ज़्यादा अशिक्षित हमारे देश में हैं, सबसे ज़्यादा हेल्थ की समस्या हमारे देश में है। ग्रोथ है एक संकीर्ण दायरे में सीमित है। इस डिवेलपमेंट के इस मॉडल में आर्थिक वृद्धि एक बहुत छोटे क्षेत्र में सिमटी हुई है। उसमें कृषि तो एक हाशियाग्रस्त क्षेत्र है। ग्रामीण क्षेत्र को पूरी तरह से हाशिये पर धकेल दिया गया है। कोशिश यही है कि उस क्षेत्र की आमदनी बाहर निकाल ली जाए।

आदित्य ने वित्तीय समावेशन के बारे में जो बात कही, उसके बारे में मेरा मानना है कि यह समावेशन असल में बहिर्वेशनकारी है। आपने किया यह है कि छोटी-छोटी आमदनियाँ बैंक में जाते ही बिज़नेस में चली जाती हैं। आपने बचत और निवेशकों को लेकर जो बात कही है कि उसमें इंटरमीडियेशन होता है। बचत बिज़नेस के हाथ में चली जाती है। जैसे, बिहार एक ग़रीब प्रांत है, लेकिन वहाँ से आधी बचत दिल्ली और मुम्बई चली जाती है। तो बैंकिंग के ज़रिये जो समावेशन है, वह अगर सुनिश्चित निवेश नहीं है, तो वह और ज़्यादा बहिर्वेशनकारी हो जाता है। जैसे आपने जन-धन योजना की बात की, वह निवेश की अनुपस्थिति में और ज़्यादा बहिर्वेशनकारी है। जिसे हम समावेशनकारी बैंकिंग कहते हैं, वह दरअसल बहिर्वेशन करती है। आपने उनकी बचत बैंकिंग में ला कर उद्योगपतियों को थमा दी। बिहार का क्रेडिट-डिपोज़िट रेशियो पूरे भारत के मुक़ाबले आधा है और दिल्ली-मुम्बई की तुलना में एक-चौथाई है। बहुत बड़ी मात्रा में यह पैसा निकल कर बाहर चला जाता है। जीएसटी में भी यही कहा जा रहा है कि इससे डिजिटाइज़ेशन होगा, और अनौपचारिक क्षेत्र को औपचारिक से जोड़ देंगे। विचार वही है कि इसको हम किसी तरीक़े से सरकारी तंत्र और संगठित क्षेत्र के हितों के अधीन इसे कर दें। लेकिन, मेरा मानना है कि असंगठित क्षेत्र इसलिए है कि वहाँ पर उसमें पैदा होने वाला रोज़गार मोटे तौर पर रेज़ीडुअल (अवशिष्ट) रोज़गार है। आपको और कहीं काम नहीं मिल रहा है, जैसा कि टी.के. अरुण ने कहा, तो वहाँ मिल जाएगा। पर वह रोज़गार नौकरियों के रूप में नहीं है। हमें फ़र्क़ करना पड़ेगा नौकरियों या जॉब्स में, और रोज़गार में। व्यवस्था रोज़गार पैदा करती है। फिर औपचारिक क्षेत्र में नौकरी मिलती
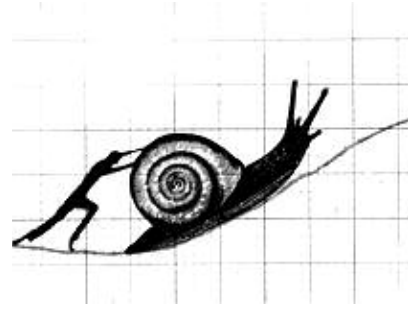
निजी क्षेत्र तो भर्ती कर ही नहीं रहा, क्योंकि ऑटोमाइज़ेशन की वजह से उनको भर्ती चाहिए ही नहीं। सरकारी क्षेत्र में भी भर्तियाँ ठप पड़ी हुई हैं। 1994 में हम सर्विस टैक्स लाए देश में, आज वह अप्रत्यक्ष कर में 35 फ़ीसदी की भागीदारी करता है। इतना बड़ा हिस्सा सर्विस सेक्टर से सेवा के ज़रिये आता है, जो अब जीएसटी में भी है, इसके बावजूद वित्त मंत्रालय ने इस काम के लिए भर्तियाँ ही नहीं कीं। जो लोग सेंट्रल एक्साइज़ में काम रहे थे, उन्हें वहाँ से निकाल कर इधर फ़िट कर दिया गया। इस नॉन-रिक्रूटमेंट पॉलिसी से भी बेरोज़गारी पैदा हुई है। यह कहानी हर विभाग में है। किसी भी विभाग में देख लीजिए।

है। पर अनौपचारिक क्षेत्र में आप रिक्शा चला रहे हैं, ठेला चला रहे हैं, सिर पर बोझा ढो रहे हैं, बस स्टैंड पर चना बेच रहे हैं, मूँगफली बेच रहे हैं, पकौड़ा तल रहे हैं। यह सारा का सारा अवशिष्ट रोज़गार है क्योंकि हमारे यहाँ सामाजिक सुरक्षा का तंत्र तो है नहीं। इसमें कोई यह नहीं कह सकता कि मैं काम नहीं करूँगा चाहे मर जाऊँ। इसलिए इंसान कुछ न कुछ तो करेगा ही, और फिर रोज़गार के आँकड़े में उसकी गिनती होगी। इसीलिए हमारे रोज़गार के आँकड़ें बदलते नहीं हैं। अगर आप एनएसएसओ को देखें तो पता चलता है कि तीन से साढ़े तीन फ़ीसदी तक बेरोज़गारी बनी रहती है क्योंकि अगर कोई कुछ भी करेगा, तो उसकी रोज़गारशुदा में गिनती हो जाएगी। जैसे एक दफ़ा राकेश मोहनजी ने कहा था कि जो सड़क पर या फुटपाथ पर सोता है वह भी एक क़िस्म की सुविधा का उपभोग कर रहा है। यानी सड़क पर सोना भी एक तरह की हाउसिंग है। इस लिहाज़ से जो नियोक्लासिकल गेम है, उसमें स्मगलिंग भी ऑप्टिमम है, टैक्स से बचना भी ऑप्टिमम है। यानी इतना तो होगा ही और हमें झेलना पड़ेगा। मतलब यह हुआ कि उसके बारे में हमें कोई कोई नैतिक संताप नहीं होना चाहिए। उसी तरह से आपने कृषि की बात की। एक तरफ़ आपका ग़ैर-कृषि क्षेत्र है और दूसरी तरफ़ कृषि का क्षेत्र है। दोनों का प्राइसिंग मेकेनिज़म अलग है। ग़ैर-कृषि क्षेत्र में मार्कअप प्राइसिंग हैं, जो क़ीमत है उसको आप मार्कअप करके कवर अप करते हैं। कृषि में माँग-आपूर्ति का नियम है। वहाँ पर मार्कअप प्राइसिंग नहीं होती। इस तरह, कृषि हर वक़्त शोषण का शिकार होती है। क़ीमत निर्धारण में यह जो अंतर है, उसे भी हमें आज के संदर्भ में समझना पड़ेगा।

अनिलजी ने सही कहा कि जो आज प्रौद्योगिकी की भूमिका सबसे ज़्यादा विध्वंसक हो गयी है। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस विशेषज्ञों से भी नौकरियाँ छीनेगी। डॉक्टर, इंजीनियर, सीए—यह समस्या सबके सामने आएगी। अब बहुत बड़े स्तर पर यह समस्या आने वाली है कि रोज़गार कैसे पैदा होगा। धीरे-धीरे निचले स्तर— काल सेंटर और बैंक-ऑफ़िस की सारी नौकरियाँ ख़त्म हो जाएँगी। मेरा भतीजा अमेरिका में डॉक्टर है। वह पहले बोलता था, जिसे टाइप करके भेज दिया जाता था। अब वही काम वॉयस रेकग्निशन के ज़रिये हो जाता है। वहाँ पर तो यह सब बहुत बड़े स्तर पर हो रहा है।

मेरा मानना है कि जीएसटी की बात आपने सही कही। उसके तहत जो रेट फ़िक्स हुए थे वे रेवेन्यू न्यूट्रल रेट थे। यानी आपको उतना रेवेन्यू मिलना चाहिए जितना जीएसटी के पहले मिलता था। उसी के हिसाब से रेट फ़िक्स किये गये थे। ऑटोमोबाइल क्षेत्र में भी रेवेन्यू न्यूट्रल रेट की बात थी कि जो आपका सर्विस टैक्स, एक्साइज ड्यूटी और सेल टैक्स से आ रहा है उतना ही जीएसटी से आना चाहिए। वह केवल एक्साइज़ की बात नहीं थी। मैं टी.के. अरुण से पूछना चाह रहा था कि 18 फ़ीसदी से 28 फ़ीसदी की जो बात है, उसमें 18 फ़ीसदी तो एक्साइज़ ड्यूटी थी। वहाँ सेल टैक्स और सर्विस टैक्स भी था। इसलिए वह रेवेन्यू न्यूट्रल रेट था। पहले इस रेट का हिसाब लगा कर 27 फ़ीसदी तय किया गया था। बाद में मोदी कमेटी ने उसका निर्धारण 15 फ़ीसदी पर किया। तो, इसमें बहुत विरोधाभास था इसलिए राजस्व जमा करने में समस्या आयी। इसलिए, हमें सोचना पड़ेगा कि यह सब किस प्रकार से होगा। रीयल एस्टेट के बारे में आपने सही कहा कि काम होगा तो अर्थव्यवस्था में गति आएगी। लेकिन सवाल यह है कि अगर राजकोषीय घाटा बढ़ाना है तो आप किस प्रकार से बढ़ाएँगे? इसका सबसे सक्षम तरीक़ा क्या होगा? यह जो रीयल एस्टेट है, वह सक्षम नहीं है। बजाय इसके अगर आप कृषि में ख़र्च करें या संगठित क्षेत्र में दें, तो वहाँ पर रोज़गार बहुत तेज़ी से बढ़ेगा। हमें देखना पड़ेगा कि कौन सा बेहतर रास्ता होगा क्या रीयल एस्टेट पर ख़र्च करना बेहतर होगा या असंगठित क्षेत्र में और किसानों की आय बढ़ा कर ज़्यादा लाभ होगा। मुझे लगता है यही वास्तविक सवाल है।

फिर, टी.के. अरुण ने कहा कि ग्रामीण मज़दूरी बढ़ी थी। लेकिन रोज़गार तो नहीं बढ़ा। न वास्तविक मज़दूरी बढ़ी, और न ही रोज़गार में बढ़ोतरी हुई। इसीलिए, जैसा कि देविंदर शर्मा ने बताया कि 50 फ़ीसदी लोग कृषि में हैं जो सालाना सिर्फ़ 20 हज़ार रुपया कमाते हैं यानी 1700 रुपये महीना।

उनकी आमदनी बढ़ती तो ऐसा न होता। रोज़गार में तो विस्थापन है। कृषि में रोज़गार सृजन की दर क़रीब-क़रीब ज़ीरो है। जिसे रोज़गार इलास्टिसिटी बोलते हैं, वह ज़ीरो है क्योंकि वहाँ पर मशीनीकरण बहुत तेजी से बढ़ा है। ज़्यादा ट्रैक्टर, हार्वेस्टर कम्बाइन, थ्रेशर आदि का इस्तेमाल हो रहा है। इमारती काम के क्षेत्र में भी बहुत मशीनीकरण हुआ है। एक सड़क बनती थी तो उसमें सौ से दो सौ लोग काम करते थे। आज चार लोग होते हैं और साथ में बड़े-बड़े ट्रेक्टर और बुलडोज़र भी होते हैं। तो मेरा मानना है कि जो संगठित क्षेत्र का इमारती काम है, उसकी अधिरचना में भी बहुत ज़्यादा रोज़गार पैदा नहीं होने वाला है। इसलिए हमें अपना फ़ोकस असंगठित क्षेत्र की तरफ़ बदलना पड़ेगा। जब तक यह फ़ोकस किसानी की तरफ़ नहीं जाता तब तक समस्या हल नहीं होगी।

फिर इसमें समस्या आ रही है डेटा या आँकड़ों की। आँकड़े ही गड़बड़ कर रहे हैं। मैं कह रहा हूँ कि रेट ऑफ़ ग्रोथ नकारात्मक है, पर बहुत से लोग बोलते हैं कि पाँच फ़ीसदी है, सात फ़ीसदी है। अगर आँकड़ें ही गड़बड़ हैं, तो आप किस चीज़ पर योजना बना रहे हैं। रिज़र्व बैंक किस आधार पर योजना बना रहा है। अगर मुद्रास्फीति के आँकड़ें ही गड़बड़ हैं, अगर आपकी ग्रोथ का आँकड़ा गड़बड़ है, तो फिर किस पर योजना बन रही है। आत्महत्या के आँकड़े 2016 के बाद से ज़ारी नहीं हुए। मुद्रा लोन के आँकड़े फ़रवरी में आने थे, पर नहीं आये। तो आँकड़े नहीं होंगे, या होंगे तो ग़लत होंगे, तो हमारी योजना गड़बड़ा जाएगी। और, यह इसलिए किया जा रहा है कि असंगठित क्षेत्र की तरफ ज़्यादा ध्यान न देना पड़े। आँकड़े केवल संगठित क्षेत्र के आ रहे हैं। हम लोग उसी के आधार पर नीतियाँ बना रहे हैं।

फिर जो काले धन की अर्थव्यवस्था है वह चुनाव में हस्तक्षेप ज़रूर करती है। लेकिन मैंने 1999 में अपनी एक किताब में और अभी *द हिंदू* के एक लेख में लिखा कि एक चुनाव में काले धन का केवल 0.2 फ़ीसदी हिस्सा ही इस्तेमाल होता है। मेरा कहना है कि चुनाव में काले धन का इस्तेमाल

बहुत ज़्यादा नहीं हो रहा है। ऐसा नहीं है कि राष्ट्रीय चुनाव में आपने 10-20 फ़ीसदी का इस्तेमाल कर लिया हो। अगर पिछले चुनाव में आपने 50 हज़ार करोड़ इस्तेमाल किया तो कई लाख करोड़ की अर्थव्यवस्था पर कितना फ़र्क़ पड़ेगा? हमें सोचना पड़ेगा कि यह समझ किस तरफ़ झुकी है। असली बात यह है कि काला धन कमाने वाले लोग राजनीति को नियंत्रित करना चाहते हैं। राजनीति काली कमाई को नियंत्रित नहीं करती, बल्कि काला धन राजनीति को नियंत्रित करता है। यह मैंने 1987 में *स्टेट्समैन* में प्रकाशित एक लेख में लिखा था कि चुनावों में सरकारी फ़ंडिंग से समस्या हल नहीं होगी। हमें मूल कारण की तरफ़ ध्यान देना होगा। बहुत ज़्यादा काला धन कमाने वाले लोग पॉलिटिक्स को नियंत्रित करना चाहते हैं ताकि वे अपना धंधा जारी रख सकें। कारण यह नहीं है कि आप क्लीन पॉलिटिक्स नहीं कर सकते। यह एक बहुत अहम बात है।

देविंदरजी ने रोज़गार पैदा करने की बात उठायी। यह हमें असंगठित क्षेत्र में पैदा करना होगा। दूसरे, शिक्षा और स्वास्थ्य में बहुत ज़्यादा रोज़गार पैदा होता है। वहाँ हमें ज़्यादा ज़ोर देना होगा। फिर ग्रामीण अधिसंरचना बहुत कमज़ोर है। हम शहरी अधिसंरचना पर बहुत ख़र्च करते हैं। मेरा मानना है कि शहरीकरण ग्रामीण अधिसंरचना से दस गुणा महँगा सौदा है। अगर आप एक स्कूल दिल्ली में बनाएँगे तो उस पर 10 करोड़ का ख़र्चा आएगा, लेकिन गाँव में वैसा ही स्कूल बीस लाख में बनाया जा सकता है। शहरी सड़क या हाई-वे और मेट्रो में प्रति किलोमीटर पर 150-300 करोड़ का ख़र्चा आता है, लेकिन गाँव में आप 15-20 लाख में सड़क बना सकते हैं। शहरीकरण— ख़ास तौर से संकेंद्रित शहरीकरण देश के ग़रीब के लिए बहुत महँगा पड़ता है। हमें विकेंद्रीकृत शहरीकरण करना होगा। उससे रोज़गार पैदा होगा। इससे गाँव से शहरों की ओर होने वाले पलायन और ख़र्च पर भी रोक लगेगी। प्रदूषण का मसला भी इसी से जुड़ा हुआ है। मेरा मानना है कि हमें शहरीकरण की नीति है पर भी ध्यान देना पड़ेगा। हम पश्चिम के शहरीकरण की नक़ल नहीं कर सकते। लोग कहते हैं कि वैसा शहरीकरण किया जा सकता है पर मेरा मानना है कि एक कंजेशन कॉस्ट भी होती है। हमारे शहरों में यह क़ीमत बढ़ती जा रही है। भारत गवर्नेबिल और मैनेजेबिल नहीं रह गया है।

जैसे आपने बात कही कि कैश को कम करने से भ्रष्टाचार शायद कम हो जाए। मेरा मानना यह नहीं है। रोबोफ़ की किताब दिखाती है कि नाइजीरिया में कैश कुल घरेलू उत्पाद के अनुपात का 1.4 फ़ीसदी है और स्वीडन में भी 1.4 फ़ीसदी है। लेकिन नाइजीरिया में बहुत भ्रष्टाचार है और स्वीडन में बिल्कुल नहीं है। जापान में 18 फ़ीसदी है। तो सिर्फ़ कैश के कुल घरेलू उत्पाद के अनुपात से भ्रष्टाचार का सीधा संबंध नहीं है। कि अगर आप औपचारिकीकरण कर भी देते हैं तो ज़रूरी नहीं कि उससे आपका भ्रष्टाचार कम हो जाए।

अंत में मैं कहना चाहता हूँ कि ग्रोथ हाशियाकरण कर रही है। हमारा असंगठित क्षेत्र हाशिये पर जा रहा है। जो नीतियाँ हम अपना रहे हैं, जो अभी हम कर रहे हैं, जो नोटबंदी हुई, जीएसटी हुआ, उसका नतीजा यही है। जैसे कि अरुण ने कहा कि क्रेडिट की उपलब्धता है, कहाँ पर क्रेडिट जा रहा है, कहाँ पर नहीं जा रहा है, किस प्रकार से नहीं जा रहा है, तो इस तरह की बातें की जा सकती हैं। पर डेटा संबंधी विवाद को भी हमें देखना चाहिए कि इसे किस प्रकार अपने पक्ष में इस्तेमाल किया जा रहा है। इसी कारण हमारा जिससे की हमारा नैरेटिव सही दिशा में नहीं आ पा रहा है। देविंदर ने बार-बार कहा कि किसान मरता है तो कोई कुछ नहीं कहता, लेकिन एक उद्योगपति मर जाए तो हंगामा हो जाता है। हमारे मीडिया पर जो नियंत्रण है, वह बहुत ज़बर्दस्त है। मैंने तो देखा है टीवी पर बहस के दौरान कि रेट ऑफ़ ग्रोथ एक फ़ीसदी नेगेटिव है जैसे तथ्य पर कोई चर्चा ही नहीं करता। बिल्कुल चुप रहते हैं। वे पाँच या छह फ़ीसदी कहते रहते हैं। कोई विरोध नहीं करता। कोई नहीं बताता कि असंगठित क्षेत्र के आँकड़े पाँच साल में एक बार आते हैं, और उसके बीच में मान लिया जाता है कि असंगठित क्षेत्र और संगठित क्षेत्र बराबर रफ़्तार से बढ़ रहे हैं। यह सही नहीं है। पर आज

तक किसी ने विरोध नहीं किया। तो, ये जो चर्चा है, विमर्श है जिसे आप डिस्कोर्स मैनेजमेंट कह सकते हैं, इसका असर राजनीतिक दलों पर भी पड़ता है। विपक्षी दल भी इस बात को नहीं उठा रहे हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था में किस प्रकार का संकट घर कर गया है, क्योंकि एक तरह से वे भी बिज़नेस या कॉरपोरेट के ही नियंत्रण में हैं।

टी.के. अरुण : आप लोगों के इन विचारों से मेरी कुछ असहमतियाँ हैं। मैं यह नहीं मानता कि हमारे विकास का मॉडल अलाभकारी या ग़लत है। मैं यह भी नहीं मानता कि फाइनेंशियल इंक्लूज़न या वित्तीय समावेशन जनता के ख़िलाफ़ एक षड्यंत्र है, या उसका पैसा उद्योगपतियों को थमाने का कोई तरीक़ा है। न ही मैं यह मानता हूँ कि शहरीकरण कोई ग़लत चीज़ है। मेरे ख़याल से यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। लोगों को नौकरी चाहिए। और नौकरी या कोई भी काम उन्हें संगठित उद्योग और सेवा-क्षेत्र में मिलता है। इस तरह की नौकरियाँ जहाँ पैदा होती हैं, संगठित सेवा और उद्योग का वह क्षेत्र शहरों में ही होता है। उसकी संख्या और आकार में बढ़ोतरी हो रही है। वह घट नहीं रहा है। ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र का दायरा कम हो रहा है। लोगबाग इन क्षेत्रों में काम करने के लिए गाँव से शहर आते हैं। गाँव से शहर का यह गमन आर्थिक वृद्धि का स्वाभाविक फलितार्थ है। यह केवल भारत में ही नहीं, सारी दुनिया में हुआ है और हो रहा है। दुनिया में ऐसी कोई अर्थव्यवस्था नहीं है, जहाँ ख़ुशहाली ने शहरीकरण को बढ़ावा न दिया हो। चीन ने विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व पैमाने पर ग़रीबी ख़त्म की है। यह देश इस समय साठ फ़ीसदी शहरी हो चुका है। भारत भी अगले बीस-तीस साल में चीन जैसा बनने की तरफ़ बढ़ रहा है। यह कोई साज़िश नहीं है, बल्कि आर्थिक प्रगति का स्वाभाविक परिणाम है। इसके नये सेक्टर बन रहे हैं।

शहरीकरण ग्रामीण अधिसंरचना से दस गुणा महँगा सौदा है। अगर आप एक स्कूल दिल्ली में बनाएँगे तो उस पर 10 करोड़ का ख़र्चा आएगा, लेकिन गाँव में वैसा ही स्कूल बीस लाख में बनाया जा सकता है। शहरी सड़क या हाई-वे में, मेट्रो में ख़र्चा 150-300 करोड़ प्रति किलोमीटर है, तो गाँव में आप 15-20 लाख में सड़क बना सकते हैं। जो शहरीकरण है, वह ग़रीब देश के लिए बहुत महँगा है। ख़ास तौर से संकेंद्रित शहरीकरण में। हमें विकेंद्रीकृत शहरीकरण करना होगा। उससे रोज़गार पैदा होगा। जो पलायन हो रहा है गाँव से शहरों में, वह नहीं होगा। प्रदूषण का मसला भी उसी से जुड़ा है।

जहाँ तक कृषि का क्षेत्र है, मैं आपकी बात से सहमत हूँ। इस क्षेत्र में नीतियाँ बुनियादी रूप से त्रुटिपूर्ण हैं। इस समय भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) के पास सात करोड़ दस लाख टन अनाज है। मोटे तौर पर यह एशिया के एक-तिहाई के बराबर माना जा सकता है। अभी एफसीआई और अनाज ख़रीदेगा, और अनाज पैदा किया जाएगा। यानी हम जितना ज़रूरी है, उससे कहीं ज़्यादा गेहूँ और चावल पैदा कर रहे हैं। अब विदर्भ के किसान को लीजिए जहाँ आत्महत्याएँ हो रही हैं। वहाँ का किसान ऐसे क्षेत्र में फ़सल पैदा कर रहा है जो बारिश पर निर्भर करता है। वहाँ ऐसी फ़सलें नहीं पैदा की जानी चाहिए। गुजरात में बीटी कॉटन पैदा किया जा रहा है, जहाँ नर्मदा बाँध के बाद सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो गयी है। ये किसान ख़ासे ख़ुशहाल हैं। यही बीटी कॉटन जब महाराष्ट्र के सूखे इलाक़ों में पैदा किया जाता है तो किसान के लिए आत्महत्या की नौबत आ जाती है। दरअसल, खेती

के क्षेत्रों और उनमें उगाई जाने वाली फ़सलों के बीच कोई सामंजस्य ही नहीं है। मसलन, हम आर्थिक प्रोत्साहन दे कर महाराष्ट्र के किसानों को गन्ना पैदा करने की तरफ़ ले जाते हैं, जबकि वहाँ पानी नहीं है। वहाँ की ज़मीन इस फ़सल के लिए उर्वर नहीं है। लेकिन वहाँ पर बहुत बड़ा चीनी उद्योग खड़ा हो गया है। दरअसल, गन्ना उगाने के लिए बिहार दुनिया में सबसे सही जगह है। पर वहाँ दूसरी समस्या है। गन्ने की खेती केवल तभी टिकाऊ हो सकती है, जब कटने के 48 घंटे के भीतर उसका रस निकाल लिया जाए, वर्ना उनसे निकलने वाले रस की मात्रा घट जाती है। इसके लिए ज़रूरी है कि वहाँ चीनी मिल हों, पर ऐसे कारख़ाने तो तभी खुल सकते हैं जब बिहार में क़ानून-व्यवस्था की स्थिति सुधरे। चूँकि बिहार में क़ानून-व्यवस्था ख़राब रहती है, उनका प्रबंधन नहीं हो सकता, शुगर फ़ैक्ट्रियाँ नहीं लगतीं, और बावजूद इसके कि वहाँ गन्ना उगाया जाना चाहिए, यह खेती वहाँ नहीं की जाती। अब दूसरा उदाहरण देखिए। कर्नाटक और तमिलनाडु पानी के ऊपर हर महीने लड़ते हैं। और, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप मिलने वाले पानी से तमिलनाडु गन्ना उगाता है। क्यों? क्या इसका कोई मतलब है? आज हम गन्ना निर्यात कर रहे हैं और उस पर सोलह रुपये की सब्सिडी दे रहे हैं। हम खेतिहर उत्पादों की क़ीमतों पर नियंत्रण रखते हैं, इसलिए होता यह है कि जब दुनिया भर में क़ीमतें बढ़ती हैं तो हमारे किसान उनका फ़ायदा नहीं ले पाते। हम क़ीमतों को एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने देते। खेतिहर जिंसों के निर्यात पर पाबंदी है। जैसे ही प्याज़ के दाम बढ़ते हैं, हम निर्यात पर सीमा बाँध देते हैं। हम उन्हें निर्यात नहीं करने देते। सब्सिडी तो ठीक है, पर हम व्यापार की शर्तों को कृत्रिम रूप से कृषि के लिए नुक़सानदेह बना देते हैं। केवल इसलिए कि हमें शहरी उपभोक्ताओं को ख़ुश रखना है। लेकिन यह सब करना ज़रूरी नहीं है। दूसरे तरीक़े हैं। हम चाहें तो एग्रोप्रोसेसिंग इंडस्ट्री खड़ी कर सकते हैं जिसके पास भण्डारण और यातायात की सुविधाएँ होंगी। अगर ऐसा होगा तो किसान ज़्यादा उगा पाएँगे, जो अभी उगा रहे हैं उससे कहीं ज़्यादा।

चूँकि ऐसा होता नहीं है इसलिए खेती की हालत ख़राब है। मैं इस बात को रिकॉर्ड पर लाना चाहता हूँ कि 1991 में जब आर्थिक सुधार शुरू हुए, कृषि को एक उछाल मिला था, क्योंकि हमने अपनी आयात-संरक्षण नीतियों में काफ़ी ढिलाई दी थी। नतीजा यह हुआ कि कृषि और उद्योग के बीच व्यापार की शर्तें सापेक्षिक रूप से खेती के पक्ष में बेहतर हो गयी थीं। लेकिन, उसके बाद से हम खेतिहर उत्पादों के दाम कम रखने पर आमादा रहे, और नतीजे के तौर पर खेती नुक़सान की स्थिति में पहुँचती चली गयी। अगर हम चाहें तो कृषि के क्षेत्र में अधिक ऋण का प्रवाह कर सकते हैं, किसानों को सहकारी संस्थाएँ बनाने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं ताकि वे कम्पनी बना कर अपने उत्पाद का व्यापार कर सकें। पर यहाँ यह भी समझने की ज़रूरत है कि दुनिया में कोई भी देश केवल खेती के दम पर ख़ुशहाल नहीं हुआ है। समृद्धि के लिए उद्योग चाहिए जो खेती के मुक़ाबले अधिक तेज़ी से बढ़ते हैं।

यहीं सवाल उठता है कि खेती की ज़मीन को शहरी इस्तेमाल के लिए कैसे हासिल किया जा सकता है? इस मक़सद के लिए किये जाने वाले भूमि अधिग्रहण के लिए हमारे पास कोई सुसंगत नीति नहीं है। यह एक चुनौती है। चूँकि हमने इसका सामना करने से साफ़ इंकार किया है, इसलिए हमारे पास शहरी भूमि की कमी है। शहर में जो ज़मीन है, वह असीमित नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि इसे बढ़ाया नहीं जा सकता। ग्रामीण भूमि को नगरीय भूमि में बदला जा सकता है। जहाँ तक इस चिंता का सवाल है कि उस सूरत में किसानों का क्या होगा, खेती की पैदावार का क्या होगा— हमें याद रखना चाहिए कि मानव-सभ्यता की शुरुआत से ही सर्वाधिक उपजाऊ ज़मीनों पर, घाटियों में शहरों की रचना की गयी है। मिसाल के लिए सिंधु घाटी की सभ्यता देखी जा सकती है। उपजाऊ ज़मीनों पर पैदा होने वाले अतिरिक्त उत्पादों का शहरों को लाभ पहुँचे— यह स्वाभाविक ही है। मनुष्य की प्रगति और समृद्धि के लिए ऐसा होना स्वाभाविक है। दरअसल, हमें ऐसी नीतियाँ बनानी

ताकि ज़मीन देने वाले किसान उस ज़मीन पर खड़े किये जाने वाले उद्योगों और उनसे पैदा होने वाली समृद्धि में भागीदार बन सकें। हमें ऐसी नीति चाहिए, पर वह हमारे पास नहीं है। इस प्रकार हम किसी साज़िश के शिकार न हो कर, ग़लत क़िस्म की राजनीति के शिकार हैं। असल में, हम एक ऐसी नीति के अभाव के शिकार हैं, एक ऐसी नीति के अभाव के जिसके ज़रिये ग्रामीण भूमि को बिना किसी बाधा के शहरी इस्तेमाल में लाया जा सकता हो।

ज़रा हमारे पॉवर सेक्टर पर नज़र डालिए। हमारे पास ढाई लाख मेगावाट बिजली पैदा करने की क्षमता है। लेकिन हम ज़्यादा से ज़्यादा डेढ़ लाख मेगावाट ही पैदा कर पा रहे हैं। इसका कारण यह है कि बिजली से संबंधित संस्थाएँ दिवालिया हैं। उनके पास बिजली ख़रीदने के लिए भुगतान की व्यवस्था नहीं है। कानपुर में बारह घंटे बिजली आती है। बाक़ी बारह घंटे डीज़ल के जेनरेटर चलते हैं बिजली देने के लिए। पेट्रोलियम फुँकता है, प्रदूषण होता है। लेकिन, वह ग्रिड बिजली सप्लाई नहीं करती क्योंकि उसके पास ख़रीदने के लिए संसाधन नहीं हैं। वह दिवालिया इसलिए है कि हमने लोगों को मुफ़्त बिजली माँगने का अभ्यास करा दिया है। नतीजा यह निकलता है कि जो भी बिजली पैदा होती है, उसके तीस फ़ीसदी का भुगतान नहीं होता। इससे न तो अर्थव्यवस्था सुधरती है, और न ही पॉवर सेक्टर में सुधार होता है। बैंक क़र्ज़ों के बढ़ते जाने का यह भी एक बड़ा कारण है। यह बुरी राजनीति का परिणाम है, उस राजनीति का जिसमें मुफ़्त बिजली की दावेदारियाँ की जाती हैं, वायदे किये जाते हैं, उनके बदले वोट माँगे जाते हैं। मेरा ख़याल है कि इन समस्याओं को दुरुस्त किया जा सकता है। ये समस्याएँ संरचनागत नहीं हैं। दूसरे देशों में भी इन समस्याओं के हल निकाले जाते हैं। जब वे इन समस्याओं को हल कर सकते हैं, तो हम क्यों नहीं कर सकते?

आदित्य निगम : अब मैं पारिस्थितिकीय संकट की तरफ़ ध्यान खींचना चाहूँगा। जो भवन-निर्माण उद्योग है, उसके लिए ज़मीन कहाँ से आएगी? उसके लिए रेत का ज़बर्दस्त खनन होता है, जिससे बाढ़ की समस्या पैदा होती है। ऐसी न जाने कितनी समस्याएँ हैं जो अर्थव्यवस्था के इस मॉडल की पैदाइश हैं। एक ज़माना था जब कहा जाता था कि हम अपने बृहत्तर पारिस्थितिकीय जगत में रह रहे हैं, और अर्थव्यवस्था इस जगत का एक हिस्सा है। इसी जगत से हमें प्राकृतिक संसाधन मिलते हैं। अब तो लगता है कि कोपरनिकसीय क्रांति को पलट दिया गया है। बजाय इसके कि धरती सूरज के चक्कर लगाती है, मामला कुछ ऐसा बन गया है जैसे सूरज धरती के चक्कर लगा रहा हो। यानी, एक दूसरे ढंग से पारिस्थितिकी को अर्थव्यवस्था का हिस्सा बना दिया गया है। इसलिए यह कहना कि पिछले डेढ़ सौ साल में जो कुछ हुआ है, वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया का हिस्सा है, उचित नहीं होगा। दरअसल, यह तर्क चल नहीं सकता। चर्चा के इस हिस्से में मैं चाहूँगा कि इस विषय पर बातचीत हो।

देविंदर शर्मा : मेरा मानना है कि हमने जिस आर्थिक डिज़ाइन को लागू किया है, उसने हमारी अर्थव्यवस्था को नीचे से ऊपर तक बीमार बना दिया है। आपने अभी जो कहा कि एक फ़ीसदी की सम्पत्ति बढ़ती जा रही है और बाक़ी 99 फ़ीसदी की कम होती जा रही है, उसकी वजह यही है। दरअसल, यह व्यवस्थागत समस्या है जो नीचे से ऊपर तक विद्यमान है।

मैं इसे दो उदाहरणों से समझाना चाहूँगा। गाँव में एक महिला है जिसके पास कुछ नहीं है। वह एक बकरी लेना चाहती है। बकरी के लिए वह क़र्ज़ लेती है, तो वह कहाँ से मिलेगा। दस हज़ार या सात-आठ हज़ार के लिए ऋण लेना है तो बैंक देगा नहीं। तो, वह एमएफआई (माइक्रो फ़ाइनेंस इंस्टीट्यूशंस) के पास जाती है जिसकी हम बहुत तारीफ़ करते हैं। वह उसके पास जाती है और उसे

बकरी के लिए 26 फ़ीसदी की ब्याज दर पर पैसा मिलता है। हम जो लोग शहरों में बैठे हैं, कहते हैं कि 26 प्रतिशत पर सशक्तीकरण होता है। मैं पूछता हूँ कि अम्बानी का सशक्तीकरण क्यों नहीं होता 26 प्रतिशत से? ग़रीबों का ही क्यों होता है? टाटा की फ़ैक्ट्री लगती है नैनो की, तो उसमें ज़मीन दी गयी, पानी दिया गया, सब कुछ दिया गया, उसके बाद 520 करोड़ का लोन गुजरात सरकार ने दिया, जिसे बीस साल में 0.1 प्रतिशत की ब्याज दर से चुकाना है। और ग़रीब महिला को दिया तो 26 फ़ीसदी की दर पर, जिसे हर हफ़्ते के हिसाब से चुकाना है। यानी तक़रीबन-तक़रीबन 60 प्रतिशत की ब्याज दर पड़ी। मेरा कहना है कि अगर उस महिला को आपने 0.1 प्रतिशत ब्याज दर पर पैसा दिया होता, तो वह भी साल के अंत में नैनो कार चलाती दिखती। यह है हमारी इकॉनॉमी का मॉडल। यह यहीं ख़त्म नहीं होता। मुझसे बहुत बार पूछा जाता है— मौसम ख़राब हुआ, किसान की फ़सल ख़राब हुई, वह अपनी बरबादी देखता है, उसे झटका लगता है, वह मर जाता है। क्या कारण है? ऐसा क्यों होता है? मैंने उसका एक विश्लेषण किया है। 1970 में मैंने न्यूनतम समर्थन मूल्य देखा। बस यह देखने के लिए कि इससे किसान को कितनी आय हो रही है। मेरा मतलब कुल आय से है। सत्तर के दशक में गेहूँ का समर्थन मूल्य 70 रुपये प्रति क्विंटल था। 45 साल बाद 2015 में बढ़ कर 1,450 रुपये प्रति क्विंटल हो गया। यानी उन्नीस गुना। मैंने इस की समाज के अन्य हिस्सों के साथ तुलना की। देखा कि जो सरकारी नौकरी वाले हैं उनकी बेसिक आय और डीए 120-150 गुना बढ़ा। इसी दौरान जो प्रोफ़ेसर हैं उनकी आय में 150-170 गुणा वृद्धि हुई। स्कूल टीचर की आय 280-320 गुणा बढ़ी। कॉरपोरेट्स की आमदनी 300 से 1,000 गुणा बढ़ी। लेकिन किसान की केवल 19 गुणा बढ़ी। मेरा मानना है अगर किसान की आय या मूल्य को उसी औसत से बढ़ाया गया होता और अगर हम कम से कम उसे सौ गुणा भी मान लें, तो उसका जो हक़ बनता था, 1990 से 2015 में, वह था 7,600 रुपये प्रति क्विंटल। जबकि उसको मिला है 1,450 रुपये। तो, वह किसान क्यों नहीं मरेगा?

क्या यह स्वाभाविक प्रक्रिया है? नहीं, यह स्वाभाविक नहीं है। इसे तो बनाया ही गया है किसानों को पीछे धकेलने के लिए। अब मेरा बाप अगर 2,000 रुपये कमाएगा, तो मेरी रुचि नहीं रहेगी किसानी में और उस सूरत में मैं किसी और काम की तलाश करूँगा। अब देखिए, सातवाँ वेतन आयोग आया। कितने प्रतिशत लोगों को लाभ मिला? संगठित क्षेत्र में तीन करोड़ लोग हैं। हमारे वित्त मंत्री ने कहा कि 45 लाख केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों और 50 लाख पेंशनधारियों को लाभ मिलेगा। 10,2000 करोड़ रुपये का अतिरिक्त भार आएगा। क्रेडिट सुइस बैंक की एक रिपोर्ट कहती है कि पूरे देश में जब ये सिफ़ारिशें लागू होंगी, पब्लिक सेक्टर में, कॉलेजों में वग़ैरह-वग़ैरह, तब कुल ख़र्चा 4.5 से 4.8 लाख करोड़ बैठेगा। हमारा उद्योग इसका स्वागत करते हुए कहता है कि इससे पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था को एक बूस्टर डोज़ मिलेगा। लोगों की जेब में पैसा जाएगा, तो माँग बढ़ेगी, और पूरे देश का विकास होगा। आर्थिक गतिविधियों में उछाल आएगा। मेरा मानना है कि यही 4.8 लाख करोड़ अगर सरकारी कर्मचारियों में न बाँटा गया होता, और 60 करोड़ लोगों को दिया गया होता तो यह बूस्टर डोज़ न हो कर रॉकेट डोज़ हो जाती। वैसे भी इस तरह से सरकारी कर्मचारियों को यह सब देने की कोई ज़रूरत नहीं थी। अगर यह रक़म किसानों पर और ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर ख़र्च की गयी होती तो दिखाई देता कि माँग कैसे बढ़ती है और अर्थव्यवस्था में क्या उछाल आता। लेकिन ऐसा कुछ नहीं किया गया क्योंकि हमारी किताबों में जो लिखा है उससे बाहर कुछ करने की क्षमता हमारे पास है ही नहीं। यही सबसे बड़ी समस्या है। इकॉनॉमी का डिज़ाइन बन चुका है और उसे स्वाभाविक मान लिया गया है यानी गाँव से शहर जाना ही स्वाभाविक है। मेरा मानना है कि यह डिज़ाइन लोगों को उनकी ज़मीन और कृषि से बाहर धकेलने के लिए बनाया गया है।

जो अमेरिका ने किया, जो युरोप ने किया, ज़रूरी नहीं कि हमारे लिए भी ठीक हो। हम अलग तरह के देश हैं। यहाँ तक कि अब चीन भी यह बात समझने लगा है। चीन में पिछले साल सत्तर लाख

लोग वापस गाँव लौटे हैं। यह संख्या कम नहीं है। इतनी बड़ी संख्या में लोग शहरों से वापस गाँव गये हैं। क्योंकि वहाँ नौकरी ही नहीं है। वहाँ जो रोज़गार पैदा हुआ था, वह चला गया अफ्रीका में। तो, अब वे करें भी क्या? ज़ाहिर है कि वहाँ भी संकट बना हुआ है। वहाँ भी लोग संकट में है।

आप पर्यावरण की बात कर रहे हैं। इसे और भी व्यापक किया जा सकता है। अभी इस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए? जब आप लोगों को गाँव से निकाल कर शहरों में लाते हैं तो क्या नतीजा होता है? हम जानते हैं कि मुम्बई में 60 प्रतिशत आबादी स्लम में रह रही है। लेकिन यह बात बहुत कम लोग जानते हैं स्लम मुम्बई के मात्र आठ प्रतिशत इलाक़े को घेरता है, बाक़ी की 92 प्रतिशत ज़मीन 40 प्रतिशत लोगों के पास है। यानी इन स्लमों के रूप में हम घेटो बना रहे हैं। हमारे एक साथी ने कहा कि शहरीकरण अच्छी चीज़ है, तो क्या यह अच्छे शहरीकरण की मिसाल है? एक कथन जो प्रधानमंत्री का मुझे अच्छा लगता है, वह है— सबका साथ, सबका विकास। लेकिन, ट्रिकल डाउन या विकास की रिसाव थियरी से सबका साथ-सबका विकास तो नहीं हो सकता। सबका विकास तो तब होगा जब कृषि सशक्त होगी। उस अर्थ में नहीं जो मैंने अभी बकरी वाली औरत की मिसाल दी, बल्कि ऐसा सशक्तीकरण हो, जिससे किसानों की आय बढ़ सके। अगर उनकी आमदनी बढ़ेगी तो मुझे यक़ीन है वे गाँव छोड़ कर शहर जाने में रुचि नहीं रखेंगे। इस देश में कहा जाता है कि 2050 तक सत्तर फ़ीसदी जनसंख्या दो फ़ीसदी ज़मीन पर रहेगी। मुझे समझ नहीं आता कि यह न्यायपूर्ण कैसे है? सत्तर फ़ीसदी दो फ़ीसदी पर बसर करे, और 98 फ़ीसदी ज़मीन ख़ाली कर दी जाए ताकि वहाँ अमीरों के गोल्फ़ कोर्स या कंट्री हाउस बनें। मेरी समझ में नहीं आता कि हम ऐसी आर्थिक नीति क्यों नहीं अपनाते जो किसानों और अन्य ग़रीबों को अपने देश में आर्थिक रूप से जीने योग्य बनाए। बजाय इसके कि हम जीडीपी ग्रोथ के आँकड़े देखते रहें, हमें अर्थव्यवस्था के मॉडल से संबंधित प्रश्नों पर ग़ौर करना चाहिए।

सातवाँ वेतन आयोग आया। ... क्रेडिट स्विस बैंक की एक रिपोर्ट कहती है कि पूरे देश में जब ये सिफ़ारिशें लागू होंगी, ... तब कुल ख़र्चा 4.5 से 4.8 लाख करोड़ बैठेगा। हमारा उद्योग इसका स्वागत करते हुए कहता है कि इससे पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था को एक बूस्टर डोज़ मिलेगा। लोगों की जेब में पैसा जाएगा, तो माँग बढ़ेगी, और पूरे देश का विकास होगा। आर्थिक गतिविधियों में उछाल आएगा। मेरा मानना है कि यही 4.8 लाख करोड़ अगर सरकारी कर्मचारियों में न बाँटा गया होता, और 60 करोड़ लोगों को दिया गया होता तो यह बूस्टर डोज़ न हो कर रॉकेट डोज़ हो जाती।

आज हम जानते है कि युरोपीय देशों का जीडीपी थमा हुआ है। मैं कुछ समय पहले फ्रांस गया। वहाँ कुछ अर्थशास्त्रियों से मुलाक़ात हुई। वे कह रहे थे कि भारत की जीडीपी तो बहुत ऊपर जा रही है, तो आप कुछ सुझाव क्यों नहीं देते। उनका जीडीपी 0.3 प्रतिशत पर रुका हुआ था। मैंने जवाब में कहा कि आप वह करें, जो इंग्लैंड करता है। उन्होंने पूछा इंग्लैंड क्या कर रहा है? मैंने कहा कि इंग्लैंड प्रोस्टीट्यूशन (देह व्यापार) और ग़ैर-क़ानूनी नशे के क्रेडिट को भी जीडीपी में गिनता है। इस पर वे बोले कि नहीं, हम यह नहीं कर सकते। मैंने कहा कि इंग्लैंड में तो यह किया जा चुका है। ब्रिटेन के साथ-साथ अन्य सात-आठ देश भी देह-व्यापार और ग़ैर-क़ानूनी नशे को जीडीपी में गिनते हैं। फ्रांस ने भी.गैर-क़ानूनी नशे की तिजारत को अपने जीडीपी की गणना में शामिल कर लिया है। देह-व्यापार वहाँ क़ानूनी नहीं है। अब युरोपीय स्टेटिस्टीकल ऑर्गनाइज़ेशन ने 28 देशों को बोल दिया है कि आप

अपनी जीडीपी गणना में देह-व्यापार और अवैध नशे को शामिल कर लीजिए। मैं सोचता हूँ कि भारत में यह कब शुरू होगा, क्योंकि जो पश्चिम में होता है, भारत उसे आँख बंद करके अपना लेता है। क्या विकसित होने का यह तरीक़ा सही है? क्या हमें गर्व करना चाहिए कि देह-व्यापार भी उसमें आ जाता है? अगर अवैध नशा जीडीपी बढ़ाता है तो पंजाब का जीडीपी तो ज़ूम कर जाएगा। वह है न 'उड़ता पंजाब', वैसा ही हो जाएगा। अगर यही करना है तो और तो कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं है।

मुझे लगता है कि हमें जीडीपी के औचित्य पर दुबारा विचार करना पड़ेगा। मैंने हर बार कहा है कि अगर एक पेड़ खड़ा है तो जीडीपी नहीं बढ़ेगा, पर अगर वह कट जाता है तो जीडीपी बढ़ जाएगा। आप मॉडल को देखें। हम इस पर बहुत गर्व करते हैं। अगर आपकी नदी यमुना साफ़ बहती है, तो जीडीपी नहीं बढ़ेगा। लेकिन बढ़ाना चाहते हैं तो यमुना को गंदा कीजिए। सारी फ़ैक्ट्रियाँ अपना अवशिष्ट इसमें डालेंगी, यमुना गंदी होगी तो जीडीपी बढ़ेगा। दूसरी बार उसे साफ़ करने के लिए दस हज़ार करोड़ का प्रोजेक्ट लगाया तो फिर जीडीपी बढ़ा। आप और मैं उस पानी को पीते हैं, बीमार होते हैं, डॉक्टर के पास जाते हैं। फ़ीस देते हैं। फिर जीडीपी बढ़ता है। कितना शानदार तरीक़ा है जीडीपी बढ़ाने का! कारों का भी यही हाल है। कारों से जीडीपी बढ़ता है। हम ख़ुश होते हैं, जश्न मनाते हैं कि हमारा जीडीपी बढ़ कर 6.2 या 9 हो गया। मुझे लगता है कि हमें अपने इस रवैये पर फिर से ग़ौर करना चाहिए। देश के विकास का मतलब यह होना चाहिए कि हमने कितने लोगों को ग़रीबी से बाहर निकालने में कामयाबी हासिल की है। भूख के शिकंजे से कितने लोग छुड़ाए जा सके। टी.के. अरुण ने कहा कि हम सरप्लस पैदा कर रहे हैं। इससे इंकार नहीं है। तो, कितना सरप्लस है हमारे पास? 2000 में हमने साढ़े छह करोड़ टन सरप्लस पैदा किया। मुझे याद है कि उस समय दो अर्थशास्त्रियों ने कहा था कि अगर गेहूँ के बोरे एक के ऊपर एक रखे जाएँ तो हम चाँद पर पहुँच कर वापस आ सकते हैं। इस समय तो हम और भी ज़्यादा उत्पादन कर रहे हैं। लगता है कि हम चाँद तक तो जा ही सकते हैं, चाहें तो मंगल की यात्रा भी की जा सकती है। जिस बात को मैं साफ़ करना चाहता हूँ कि ग्लोबल हंगर इंडेक्स में हमारी जगह 102वीं है। हम अपनी भूखी जनता का पेट नहीं भर पा रहे हैं, पर हम ख़ुश है कि हमारे पास सरप्लस है। दरअसल, हमारे पास हंगर-सरप्लस है, वास्तविक सरप्लस नहीं है। जो सरप्लस हमारे पास है, अगर उसका वितरण करते हैं, तो वांछित कैलोरी मानकों के लिहाज़ से अगर खपत की गयी तो यह सरप्लस मुश्किल से 15 दिन में ख़त्म हो जाएगा। लेकिन, हम इस द्विभाजन को ख़त्म नहीं करना चाहते, क्योंकि हम लगातार यह छवि प्रोजेक्ट करना चाहते हैं कि हमारे पास सरप्लस है। दरअसल, इस समस्या को उस तरीक़े से हल नहीं किया जा सकता जो कॉरपोरेट्स की तरफ़ से सुझाया जा रहा है।

मैं सीधी बात करता हूँ। हरित क्रांति के बाद अगर 94 फ़ीसदी किसान बाज़ार पर आधारित हैं तो उनकी आय क्यों नहीं बढ़ रही? दूसरा, आप अमेरिका को देखिए, जिसके नक़्शेक़दम पर हम आँख बंद कर के चलते हैं। अमेरिका में उनके यूएस एग्रीकल्चर डिपार्टममेंट के चीफ़ ने कहा है साठ के दशक से ही अमेरिका में किसानों की वास्तविक आय में गिरावट आ रही है। अमेरिकी लोगों ने इस मामले में समझदारी दिखाई, जो भारत में नहीं है। अमेरिका ने किसानों को सीधे इनकम सपोर्ट और सब्सिडी दी ताकि वे जी सकें। भारत में हम ऐसा नहीं करते, और किसानों से कहते हैं कि भगवान के भरोसे रहो। सिर्फ़ इंडस्ट्री को सब्सिडी चाहिए और किसी को नहीं।

देखिए, पीएम किसान योजना आयी है। जिसके तहत साल में 6000 रुपये मिलते हैं। मतलब 500 रुपये महीना। आप बताइये 500 रुपये में कोई किसान कैसे जिये? और आप सोचते हैं कि 500 रुपये में उसका संकट ख़त्म हो जाएगा। अमेरिका में एग्रीकल्चर सब्सिडी है, फिर भी कृषि की हालत वहाँ ख़स्ता है। *न्युयॉर्क टाइम्स* की ख़बर के अनुसार वहाँ के एक डेयरी फ़ार्म के किसान ने आत्महत्या की। डेयरी किसानों के पास सभी तकनीकी सुविधाएँ होती हैं। सब था उसके पास। सम्पन्न किसान

था वह, फिर भी पहले उसने अपने 51 गायों को गोली मारी, और फिर ख़ुद को गोली मार ली। चाहे अमेरिका हो, युरोप हो, न्यूज़ीलैंड हो, आस्ट्रेलिया हो, वहाँ का डेयरी सेक्टर संकट में है।

आरसीईपी ट्रीटी (रीज़नल कम्प्रेहेंसिव इकॉनॉमिक पार्टनरशिप ट्रीटी) को हमारे बहुत से लोग समर्थन दे रहे हैं कि उसके तहत हमें न्यूज़ीलैंड की मदद करनी चाहिए, ऑस्ट्रेलियन किसानों की मदद करनी चाहिए कि वहाँ संकट हैं। हमारे अपने किसानों की मदद करने के बारे में मैंने कभी नहीं सुना कि हमारे मुख्य अर्थशास्त्री खड़े हो कर बोलें उन्हें समर्थन देने के लिए। यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। कुछ समय पहले मैं फ्रांस गया था, मैंने वहाँ किसानों से बात की। मैंने पूछा कि आपके यहाँ लड़कों की शादी होती है? उन्होंने कहा हमारे यहाँ बच्चों की शादी नहीं हो रही है। फ्रांस में किसानों के लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिल रही हैं। वहाँ एक टीवी शो चल रहा है जिसका नाम है 'लव इन द फ़ील्ड'। 'बिग बॉस' जैसा एक रियलिटी शो है यह, जिसमें हर हफ़्ते लड़कियाँ स्टेज पर लाई जाती हैं, और लड़के उन लड़कियों को शादी करने के लिए आकर्षित करते हैं। मुझे लगता है हमें भी 'बिग बॉस' बंद कर के यह काम करना चाहिए। और यह समस्या सिर्फ़ फ्रांस में नहीं है। आप इंग्लैंड जाएँ, वहाँ भी एक ऐसा ही टीवी शो चल रहा है। वहाँ भी इन लड़कों के लिए लड़कियाँ तलाशी जा रही हैं। कनाडा गया तो पता चला कि वहाँ भी ऐसा शो हो रहा है।

मुझे लगता है कि भारत में हम यह एहसास नहीं कर पा रहे कि संकट कितना भयंकर है। भारत में भी लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिल रही हैं। यह सब इसलिए है क्योंकि आय बहुत कम है। ऐसा नहीं है कि किसी इतिहास में या बाइबिल में लिख दिया गया है कि किसान की आमदनी इतनी होनी चाहिए। दरअसल, यह डिज़ाइन है। क्योंकि जैसे ही किसान की आय बढ़ेगी, अर्थव्यवस्था धराशायी हो जाएगी, इकॉनॉमिक सुधार धराशायी हो जाएँगे। सारा ढाँचा उस वर्ग के लिए बनाया गया है जो छह फ़ीसदी है। उस सेक्टर को बचाने के लिए सारा काम हो रहा है। अगर हमें अपनी आर्थिक समस्या हल करनी है तो हमें अपने संसाधनों को कृषि में केंद्रित करना होगा। यही आगे बढ़ने का सबसे अच्छा तरीक़ा है। समय आ गया है कि हम अपनी अर्थव्यवस्था के उस डिज़ाइन का फिर से मूल्यांकन करें। जिसके तहत हम कृषि को आर्थिक गतिविधि ही नहीं मानते।

सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम कैसे सोचते हैं। कहा जाता है कि कॉरपोरेट सेक्टर टैक्स देता है। खेती पर टैक्स नहीं लगता। यह समझ पूरी तरह से ग़लत है। हमारे देश के एक जानेमाने अर्थशास्त्री हैं, मैं नाम नहीं लूँगा। उन्होंने एक लेख लिखा कि एलपीजी के सिलेंडर पर दी जाने वाली सब्सिडी एकदम बेकार है। गटर में जाती है। अगर यह बंद कर दी जाए तो 48 हज़ार करोड़ की बचत होगी जिससे एक साल के लिए ग़रीबी मिटाई जा सकती है। मैंने उनकी बात पर कहा था कि हमने 2004 से ले कर अभी तक 50 लाख करोड़ रुपये से ज़्यादा के टैक्स में छूट दी है कॉरपोरेट सेक्टर को। यह रक़म अगर हमने कृषि को या ग़रीबी हटाने के लिए दी होती तो ग़रीबी सौ साल के लिए हटा दी गयी होती, ग़रीबी भारत का अतीत होता। ऐसा मॉडल हमारे यहाँ क्यों नहीं है? 50 लाख करोड़ रुपये दे कर न आपका निर्यात बढ़ा, न आपका उत्पादन बढ़ा, न नौकरी पैदा हुई। वह पैसा कहाँ गया? न आपका आउटपुट बढ़ा, न नौकरी पैदा हुई, तो वह पैसा कहाँ गया? ज़ाहिर है कि पैसा जेब में गया!

कॉरपोरेट टैक्स में छूट दी गयी और सब लोग बहुत ख़ुश हुए। जीडीपी का पाँच फ़ीसदी कॉरपोरेट की टैक्स-छूट के लिए इस्तेमाल होता है। और रूरल इकॉनॉमी? रिज़र्व बैंक के आँकड़े कहते हैं कि 2011-12 से लेकर 2016-17 के बीच खेती में जीडीपी के अनुपात में सरकारी निवेश केवल 0.3 से 0.4 फ़ीसदी था। यानी पचास फ़ीसदी आबादी के पास 0.4 फ़ीसदी संसाधन हैं, और बाक़ी के पास अस्सी फ़ीसदी । ऐसा ही है, और इसीलिए कॉरपोरेट के बल्ले-बल्ले है। अगर इसका आधा भी कृषि में लगा दिया जाए, तो देश की शक्ल ही बदल जाएगी। यही एक रास्ता है जो देश की ग़रीबी ख़त्म करके उसे सुखी-सम्पन्न बना सकता है।

अनिल शर्मा : हम जीएसटी पर चर्चा कर रहे हैं। जीएसटी का जो रेट है, वह ऑटोमोबाइल सेक्टर हो या कोई और, उसके सात-आठ स्लैब हैं— 3 प्रतिशत से शुरू हो कर 5, 7, 12, 28 प्रतिशत तक। लेकिन हम एक चीज़ भूल जाते हैं कि जीएसटी के अंदर 28 प्रतिशत का स्लैब भी आख़िरी नहीं है। इसके अलावा जो सेस (शुल्क) चार्ज होता है, वह जीएसटी रेट पर न हो कर ओरिजिनल वैल्यू पर होता है। इस तरह सेस टैक्स का हिस्सा ही बन जाता है। इस तरह हमारे जीएसटी के अंदर 43 फ़ीसदी तक टैक्स जाता है। कुछ चुनिंदा उत्पाद देखिए— ऑटोमोबाइल, तम्बाकू है, इस तरह के उत्पादों के ऊपर टैक्स रेट 40 फ़ीसदी से ज़्यादा तक चला जाता है।

टी.के. अरुण ने जो स्वाभाविक प्रक्रिया की बात कही, उसको मैं भी नहीं मानता। क्योंकि अगर आईटी बंगलुरू में है तो हम उसे वहीं या हैदराबाद में ही क्यों रखे हुए हैं। हम आईटी को हिमाचल में भी ला सकते हैं। हिमाचल के लोगों को बंगलुरू में जा कर ही क्यों काम करना पड़ता है? हिमाचल का तो मौसम भी आईटी क्षेत्र के लिए अच्छा है। तो, हमें इसे हिमाचल में भी प्रोत्साहित करना चाहिए। हिमाचल में पंजाब के लोग भी जाएँगे। दूसरे, कंजेशन की चर्चा कीजिए। इसकी क़ीमत बहुत है। दिल्ली में प्रदूषण बहुत है तो क्यों न दिल्ली को डिसमेंटल कर दिया जाए। इसी तरह गुड़गाँव में मारुति के प्लांट की क्या ज़रूरत है? गुड़गाँव दिल्ली के बहुत पास है, और इस प्लांट ने सोशलाइज़ेशन की काफ़ी समस्या पैदा की है। इसे भी कहीं और ले जाया जा सकता है। जब तक इस प्रकार के क़दम नहीं उठाए जाएँगे, गाँव से शहर की तरफ़ जाने की प्रक्रिया को नहीं रोका जा सकेगा। सीमेंट का प्लांट हम हिमाचल के ग्रामीण क्षेत्र में लगा रहे हैं। निस्संदेह वहाँ पर रोज़गार पैदा हो रहा है। पर उससे पर्यावरणीय मुद्दे खड़े हो रहे हैं, उन्हें भी देखना होगा। इसी तरह मारूति को गुड़गाँव से हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्र में ले जाया जा सकता है। महेंद्रगढ़ या नारनौल के किसी क्षेत्र में ले जा सकते थे। उसमें कोई दिक़्क़त नहीं आने वाली थी। हरियाणा सरकार का रेवन्यू उतना ही बनता, पर हम क्यों उसको उस क्षेत्र में रखना चाहते हैं। एनसीआर में ही क्यों रखना चाहते हैं? क्यों हम ग्रामीण आबादी को शहरी क्षेत्र में शिफ़्ट कर रहे हैं। उससे लाज़िमी तौर पर दबाव बनेगा, जो लम्बे समय में नुक़सानदेह साबित होगा। हमारे देश में साठ फ़ीसदी आबादी खेतिहर क्षेत्र में है। हम यह भी जानते हैं कि यहाँ खेती लाभकारी नहीं है। इसका मुख्य कारण है न्यूनतम समर्थन मूल्य की गणना करने का ग़लत तरीक़ा। हम जिस तरह उद्योगों में लागत की गणना करते हैं, उसी तरह हमें खेती में भी करनी चाहिए। केवल तभी खेती को लाभकारी बनाया जा सकता है। आख़िरकार खेती भी एक उद्योग की ही तरह है। इसलिए वहाँ भी उद्योगों वाली लागत तय करने का फ़ारमूला अपनाया जाना चाहिए। हम इंडस्ट्री में ज़मीन का उपयोग करते हैं और लीज़ पर ली गयी ज़मीन को उत्पादन की क़ीमत में जोड़ते हैं। अगर ज़मीन ख़रीदते हैं तो उसकी क़ीमत उत्पादन की क़ीमत में जोड़ते हैं। इसी तरीक़े से अगर किसान अपने खेत से जो भी उत्पाद निकालता है, उसमें उस खेत की वैल्यू का भी उत्पाद की क़ीमत के अनुपात में मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

इंडस्ट्री के अंदर हम क्या करते हैं? बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर में काम करने वाले लोगों— वह किसी की पत्नी हो या बेटी, उसे बाज़ार के हिसाब से भुगतान किया जाता है। अगर यह परिस्थिति इंडस्ट्री में बन सकती है, तो कृषि में क्यों नहीं? खेतों में अगर हमारे किसान के परिवार वाले काम कर रहे हैं तो उन्हें भी उसी नज़रिये से देखा जाना चाहिए। उन्हें भी इंडस्ट्री के मानकों के हिसाब से वेतन दिया जाना चाहिए। सिंचाई में काम आने वाली मशीनरी, उर्वरक, पानी या ज़मीन— इन सबको लागत मूल्य में जोड़ा जाना चाहिए। अगर हम लागत तय करने वाले मानक उद्योगों के लिए बना सकते हैं, तो कृषि के लिए भी बना सकते हैं। यानी पहले किसान की वास्तविक लागत की ठीक से गणना होनी चाहिए, और फिर उसकी फ़सल का दाम तय किया जाना चाहिए।

हम कहते हैं कि उद्योग के अंदर बाज़ार की भूमिका है, बाज़ार क़ीमतों को नियंत्रित करता है। तो ठीक है, बाज़ार अगर उद्योग के लिए नियंत्रण का काम कर सकते हैं तो बाज़ार कृषि के लिए नियंत्रण की भूमिका निभा लेंगे। एक बार किसान को कहने दो कि हम तो गेहूँ इतने में बेचेंगे, जिसको ख़रीदना है ख़रीदे, न ख़रीदना हो तो न ख़रीदे। तो, अगर हम ऐसा कर दें या ऐसा मॉडल बन जाए जो कृषि और उद्योग के नियमों को बराबर कर दे, तो साठ फ़ीसदी आबादी की समस्याएँ हल हो सकती हैं। देविंदरजी ने जो मुद्दे उठाए हैं, वे काफ़ी हद तक सुलझ सकते हैं।

*(**अरुण कुमार :** मेरा टी.के. अरुण से अनुरोध है कि वे कॉरपोरेट मीडिया की भूमिका के बारे में अपनी टिप्पणी ज़रूर करें, ताकि इस चर्चा में यह पहलू छूट न जाए।)*

टी.के. अरुण : देश में सबसे ज़्यादा लाभकारी मीडिया ग्रुप टाइम्स ग्रुप है। मैं समझता हूँ कि रिलाइंस या कुमार मंगलम बिड़ला जैसे कॉरपोरेट घराने मीडिया के मालिक बनें, उससे ज़्यादा टाइम्स ग्रुप का मॉडल ज़्यादा श्रेयस्कर है। विज्ञापन छाप कर पैसे कमाने वाला एक ऐसा मीडिया मालिक उन लोगों से बेहतर है जो कोई दूसरा काम करके पैसा कमा रहे हैं, और मीडिया में दूसरे मक़सदों से हस्तक्षेप कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, टाटा को लीजिए। उन्होंने चार-पाँच साल के लिए विज्ञापन बंद कर दिये, क्योंकि किसी बात पर नाराज़ थे। लेकिन, दूसरे विज्ञापक थे, जिनसे विज्ञापन की आमदनी होती रही, और ग्रुप चलता रहा। ऐसे मीडिया मालिक किसी ख़ास राजनीतिक लाइन पर नहीं चलते। मोटे तौर पर तटस्थ रहते हैं। ये मालिक अख़बार पर अपनी राजनीतिक लाइन नहीं थोपते। वे सम्पादक पर छोड़ देते हैं, और इस बिना पर सम्पादक साहसपूर्वक जो उचित समझता है, वह लाइन लेता है। इसके उलट कॉरपोरेट नियंत्रण वाला मीडिया इस तरह की लाइन नहीं ले सकता। वह सरकार का विरोध करने का साहस नहीं जुटा सकता। उसकी पेरेंट कम्पनी के लाभकारी होने के लिए सरकार का ख़ुश रहना ज़रूरी है। इसके उलट विज्ञापन पर निर्भर मीडिया हाउस बिना इसकी चिंता किये अपना काम करता रह सकता है। अगर उद्योग-व्यापार ठीक से चल रहा है, तो उसे विज्ञापन मिलता रहेगा, और वह सरकार के दबाव में नहीं आएगा।

झुग्गी-झोंपड़ी वालों और अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वालों की जो आमदनी होती है, या उनके पास जो पूँजी है, वह कैपिटल मार्केट में उपलब्ध कुल धन से अधिक है। स्टॉक एक्सचेंज में जितना पैसा घूम रहा है, उससे ज़्यादा सम्पत्ति तो ग़रीब लोग अपनी गतिविधियों के दौरान पैदा कर लेते हैं। इसे वे डेड कैपिटल मानते हैं, जिसे आगे उत्पादन के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। इसलिए उनकी कोशिश है कि उसे कैसे औपचारिक उत्पादन के दायरे में लाया जाए। यही वह मसला है जिसे फ़ाइनेंशियल इनक्लूज़न के ज़रिये साधने की कोशिश हो रही है। ये जो डायरेक्ट ट्रांसफ़र बेनिफ़िट है, उसका ताल्लुक़ भी इसी से है।

मीडिया एक प्लेटफ़ॉर्म इंडस्ट्री है। इस प्लेटफ़ॉर्म के दो सिरे हैं। एक सिरे पर वे लोग हैं जो मीडिया तक समाचारों और विचारों के लिए पहुँच बनाते हैं। मीडिया का इस्तेमाल करने वाले इन लोगों से होने वाली आमदनी छोटी होती है। लेकिन, दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जो मीडिया का इस्तेमाल पहले सिरे के उपयोगकर्ताओं तक पहुँचने के लिए करते हैं। इन लोगों को कहीं ज़्यादा आमदनी की

सम्भावनाएँ होती हैं। इसलिए, मैं कह सकता हूँ कि एक समुचित क़िस्म की पत्रकारिता करना और विज्ञापन की आमदनी से व्यापार करना और लाभकारी होने के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। अगर एक विज्ञापक अख़बार से जुड़े पाठकों तक पहुँचना चाहता है, तो अख़बार को उस पाठक वर्ग तक प्रामाणिक समाचार और विचार पहुँचाने होंगे। वरना लोग उस अख़बार पर यक़ीन करना बंद कर देंगे। यानी, मीडिया हाउस जितना विश्वस्त और साख वाला होगा, उसे उतना ही विज्ञापन मिलेगा, और वह उतना ही ज़्यादा मुनाफ़ा कमाएगा।

आदित्य निगम : तो, अब तक जो बातचीत हुई है, उसमें बहस का एक बड़ा मुद्दा तो सामने आ ही गया है। देविंदर शर्मा ने जो बात कही है, उसे मैं थोड़ा और विमर्श में लाना चाहूँगा, उस पर ज़ोर देना चाहूँगा। यह जो ट्रिकल डाउन वाला आग्रह है, उस पर अब उसके कई समर्थक दोबारा सोचने की मुद्रा में आ गये हैं। अब तो आईएमएफ़ के भीतर भी इस बात पर ग़ौर होने लगा है कि लोगों के हाथ में भी कुछ पैसा पहुँचाना चाहिए, बजाय इसके कि ज़्यादातर पैसा केवल सबसे ऊपर के पंद्रह-बीस फ़ीसदी के हाथ में ही रहे। लेकिन, इसका फ़ॉर्म क्या होगा? यह सवाल अभी बहसतलब बना हुआ है। यह जो बेसिक युनिवर्सल इनकम का ख़याल है, वह एक तरह से एक स्वीकारोक्ति है कि अब हम रोज़गार पैदा नहीं कर सकते। रोज़गार पैदा नहीं होगा, तो हाथ में क्रय-शक्ति नहीं होगी, तो अर्थव्यवस्था का क्या होगा? इसलिए यह अब दिलचस्प लगता है कि जो अर्थशास्त्री एक 'फ़्री लंच' के लिए तैयार नहीं थे, वे अब बुनियादी आमदनी की गारंटी करने की बात करने लगे हैं। इस स्वीकारोक्ति ने पूँजीवाद की, इस ग्रोथ मॉडल की सीमाएँ स्पष्ट कर दी हैं। और, यह बात कहीं न कहीं जीडीपी के साथ जुड़े हुए 'ग्रोथ फ़ेटिशिज़्म' से जाकर भी जुड़ती है। व्यापक रूप से कहें तो इसका एक सिरा पारिस्थितिकीय संकट से भी जुड़ा है।

तो, मैं चर्चा के आख़िरी राउंड में बात को उस तरफ़ ले जाना चाहता हूँ। कंस्ट्रक्शन इंडस्ट्री का उदाहरण लीजिए। उसके लिए ज़मीनों का अधिग्रहण किया जाता है। कंस्ट्रक्शन तो सभी जगह हो रहा है। हाईवे निकलता है तो गाँव चीर कर निकलता है। हाईवे के लिए जितनी जगह चाहिए, उससे कई गुणा ज़्यादा ज़मीन अधिगृहीत की जाती है। वहाँ मॉल और न जाने क्या-क्या बनता है। इससे जुड़े और भी कई सवाल हैं। हमारा भू-जल स्तर नीचे जा रहा है। हवा की हालत ख़राब है। हर शहर की हवा ज़हरीली होती जा रही है। दुनिया भर में यही रुझान देखने को मिल रहा है। देविंदर शर्मा जो कह रहे थे टीवी सीरियल के हवाले से, या चाइना के हवाले से, वह बात तक़रीबन आहिस्ता-आहिस्ता कुछ हलक़ों में मानी जाने लगी है कि ग्रोथ का यह पैटर्न टिकाऊ नहीं है। अगर इसी तरह से चलता रहा तो पूरी मानवता तबाही की क़गार पर आ सकती है। अभी तक हम लोग संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र से जुड़ी समस्याओं पर, आर्थिक वृद्धि से जुड़ी समस्याओं पर चर्चा करते रहे हैं, लेकिन हमने अभी उसके पारिस्थितिकी पहलुओं से जुड़े सवालों पर बात नहीं की है। दरअसल, मॉडल का सवाल जब भी आएगा, उसके साथ पारिस्थितिकीय सीमा का सवाल आएगा ही।

दूसरा नुक़्ता वह है जो अभय चाह रहे थे कि हम लोग आर्थिक संकट के राजनीतिक फलितार्थों पर भी बात करें। हालाँकि यह चर्चा कुछ अनुमानपरक हो सकती है, पर यह चर्चा की जा सकती है कि आर्थिक धरातल पर इतनी भयंकर स्थिति होने के बावजूद इसका कोई असर राजनीतिक हलक़ों पर क्यों नहीं पड़ता। जब वोट देने का सवाल आता है, तो औरों को तो छोड़िए, ख़ुद विपक्षी दल भी इन सवालों पर आंदोलन करने या लोगों को हरक़त में लाने की कोशिश करते नहीं दिखाई देते। तो, इसका राजनीतिक प्रतिफलन क्या होगा, होगा भी या नहीं होगा? ये सवाल है अनुमान और आकलन के दायरे में। इस तरह इन दोनों पहलुओं पर चर्चा की जा सकती है।

देविंदर शर्मा : देखिए, बदक़िस्मती से आज के समय में हम पारिस्थितिकीय तबाही के सामने खड़े हैं। और भी दुखद बात यह है कि भारत में हम दुनिया से दस साल पीछे चलते हैं। अभी हम तबाही और होने देंगे, और फिर हमारे यहाँ इस पर चर्चा शुरू होगी। लेकिन, यह भी हो सकता है कि आबोहवा का यह संकट इतना गम्भीर हो जाए कि हमें उस पर फ़ोकस करना पड़े। मेरा मानना है कि यह संकट हमारे आर्थिक डिज़ाइन का परिणाम है। यह सब हमारे ग्रोथ मॉडल के कारण हुआ है। इस सिलसिले में अध्ययनों की कोई कमी नहीं है। औद्योगीकरण के बाद क्या हुआ, औद्योगीकरण से पहले के वक़्तों में क्या स्थिति थी। ये सारे अध्ययन हमारे पास उपलब्ध हैं। अब इस समस्या पर हमें इनसे परे जा कर ग़ौर करनी चाहिए।

अभी मैं नोबेल विजेता अर्थशास्त्री जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज़ को पढ़ रहा था। उनका कहना था कि नव-उदारतावाद का वक़्त अब गुज़र चुका है। अब उसके मॉडल के ख़िलाफ़ आवाज़ें उठ रही हैं, सवाल किये जा रहे हैं, और इन आवाज़ों के प्रभाव और तेज़ी में भी बढ़ोतरी हो रही है। स्टिग्लिट्ज़ ही नहीं, वे लोग भी बोल रहे हैं जो मॉडल के बड़े भारी पैरोकार थे। दूसरी बात यह है कि पारिस्थितिकीय संकट का कारण प्रकृति का अनाप-शनाप दोहन है। केवल भारत ही नहीं, दुनिया भर में दोहन हुआ है। ज़मीन के नीचे का पानी इसी वजह से घटा है, ऊपर के पानी में प्रदूषण फैला है। मिट्टी ज़हरीली हो गयी है, और इसका कारण है कीटनाशकों का इस्तेमाल। हाल ही में सीएसई की एक रपट आयी है जिसमें बताया गया है कि पिछले 25 साल में हमने 75 प्रतिशत कीट-पतंगों को खोया है। मरुस्थलीकरण हो रहा है। इससे संकट की भयावहता का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। अभी एक आईपीसीसी (जलवायु परिवर्तन के सवाल पर अंतर-सरकारी अध्ययन दल) की रपट आयी है जो बताती है कि समुद्र कितने गर्म होते जा रहे हैं, धरती कितनी गर्म होती जा रही है। अगर हम तुरंत संशोधनकारी क़दम नहीं उठाते, तो समझ लीजिए कि हमारे पास बहुत समय नहीं बचा है।

अब सवाल है कि हम किसके हित में सोच रहे हैं, क्या मानवता के हित में ? मैं अभी तेल और प्राकृतिक संसाधनों की कम्पनी एक्सोन के चेयरमैन का इंटरव्यू देख रहा था। वे कह रहे थे कि भाई, अब तो दुनिया के पास केवल सात-आठ साल का समय ही बचा है। फिर वे इंटरव्यू देते-देते दुखी हो गये, इसलिए कि अगर दुनिया ख़त्म हो गयी तो उस तेल का क्या होगा जो अभी धरती के नीचे बचा हुआ है। यानी एक तरफ़ तो हम दुनिया के विनाश से चिंतित हैं, दूसरी ओर वे पूरा तेल न निकाल पाने को लेकर दुखी हैं। इस बात पर ध्यान देने के लिए तैयार नहीं है कि सारी दुनिया में फ़ोसिल फ़्यूल का जो नाश हुआ है, उससे कितना बड़ा संकट खड़ा हो गया है।

कृषि के क्षेत्र में जो तबाही हुई है, उसके बारे में एक बात साफ़ करता हूँ। आईपीसीसी की रपट के अनुसार दुनिया में एक तिहाई गैस उत्सर्जन के लिए खेती ज़िम्मेदार है। लेकिन, एक और अध्ययन है इकॉनॉमिक्स ऑफ़ इको सिस्टम्ज़ ऐंड बायोडायवर्सिटी (टीइबी) की, जिसमें कहा गया है कि ग्रीन हाउस उत्सर्जन में खेती का हिस्सा 47 से 57 फ़ीसदी के बीच है। यह रपट वनों की बरबादी से लेकर खाद्यान्न की बरबादी तक को अपने अध्ययन के दायरे में लेती है। इससे पता चलता है कि पारिस्थितिकीय संकट में खेती का कितना व्यापक हिस्सा है, और इससे कितनी बड़ी चुनौती निकलती है। यह बात हमें एक कहीं ज़्यादा व्यापक समस्या की ओर ले जाती है। इसका उदाहरण है अमेज़ोन का विनाश, जब से ब्राज़ील में नये राष्ट्रपति आये हैं। यह पूरा उदाहरण जीडीपी ग्रोथ से जुड़ा हुआ है। जितने पेड़ कटेंगे, उतना ही जीडीपी बढ़ेगा। हर देश दिखाना चाहता है कि उसका जीडीपी कितना बढ़ गया है। यह सब रिपोर्ट कार्ड बेहतर करने के लिए किया जाता है। जल संकट भी गहराता जा रहा है। केपटाउन और चेन्नई के बाद, जल एक मुश्किल से मिलने वाला संसाधन बनने की तरफ़ जा रहा है। जैसे ही इसका एहसास होता है, लगने लगता है कि हम इन समस्याओं के समाधान में कितनी देर कर रहे हैं।

चीन के राष्ट्रपति ने हाल ही में एक बात कही। उनका कहना है कि प्रकृति को आप जितना नष्ट करेंगे, वह आपको उतना ही सताएगी। चीनी राष्ट्रपति के अनुसार इक्कीसवीं सदी पारिस्थितिकीय सभ्यता की सदी होने जा रही है। मैं इस मामले में पूरी तरह से उनका समर्थन करता हूँ। समय आ गया है कि न केवल हम खेती में इस प्रश्न पर ग़ौर करें, बल्कि दुनिया के पैमाने पर जीवन-शैली बदलने के बारे में भी सोचें। मैं पहले बता चुका हूँ कि चीन में लोगों को वापस गाँवों में लाया जा रहा है। दरअसल, वहाँ खाद्य संकट भी है। जब लोग गाँव से शहर गये थे, तो खाद्य का उत्पादन घट गया था। चीन खाद्य का सबसे बड़ा आयातक देश बन गया है। मैं समझता हूँ कि कोई भी देश खाद्य आयात को घटाना ही चाहेगा। दूसरे, चीन में औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्होंने इतना ज़बर्दस्त पारिस्थितिकीय विनाश किया है कि उनके पर्यावरण मंत्रियों को मानना पड़ा है कि इस तरह का प्राकृतिक विनाश अब और नहीं झेला जा सकता। भारत में स्थिति यह है कि हम अभी भी कहीं न कहीं यह मानते हैं कि हमारे यहाँ प्रकृति का कुछ और विनाश करने की गुंजाइश है। हमारे कई अर्थशास्त्री भी यह मानते हैं, इसीलिए उनका ज़ोर जीडीपी बढ़ाने पर ही है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि आबोहवा में होने वाला परिवर्तन बहुत जल्दी ही निर्णयकारी स्थिति में आने वाला है। अभी हम लोग, ख़ासकर वे लोग जिनके पास तंत्र को प्रभावित करने की क्षमता है, इस बात से ख़ुश हैं कि हमारी आमदनी बढ़ती जा रही है। लेकिन जब जलवायु-परिवर्तन की मार पड़ेगी, तो हमें सबक़ मिलेगा। आहिस्ता-आहिस्ता इसके संकेत हमारे सामने आने भी शुरू हो गये हैं। एक बात और समझने की है। भारत को ग्रोथ मॉडल के संबंध में जो समझ थमाई गयी है, उसका बड़ा हिस्सा अब पश्चिम के देशों में भी प्रश्नांकित होने लगा है। जब से नयी सरकार आयी है, और वित्त मंत्री निर्मला सीतारमन ने जो रियायत का पैकेज घोषित किया है, उसके आधार में समझ यह है कि अगर कॉरपोरेट टैक्स घटाया जाएगा तो निवेश बढ़ेगा। और, अगर निवेश नहीं बढ़ा तो नौकरियाँ नहीं बढ़ेंगी।

अर्थशास्त्री पॉल क्रुगमेन ने अपने लेख में भी लिखा है और मैंने ट्वीट भी किया है कि ट्रम्प ने अमेरिका में ऐसा ही किया था। कॉरपोरेट टैक्स घटाए थे। लेकिन, न रोज़गार बढ़ा, और न ही निवेश। पिछले चार साल से वहाँ ऐसी ही स्थिति है। पर, हम भारत में वही कर रहे हैं जिसमें अमेरिका को कामयाबी नहीं मिली। दिक़्क़त यह है कि अर्थशास्त्र के किताबी ज्ञान से हमें जो रूपरेखा मिली है, उससे बाहर निकलने की क्षमता हममें नहीं है। अगर हम किसी अर्थशास्त्री से पूछें कि क्या उन्होंने कभी किसान को देखा भी है, तो पता चल जाएगा कि उन्हें हक़ीक़त का कितना ज्ञान है। अभी पराली जलाने वाला प्रकरण हुआ। कई लोगों ने मुझे फ़ोन करके पूछा कि जो पराली जलाई जा रही है, वह धान की है या गेहूँ की। बताइए, ऐसे विशेषज्ञों का क्या किया जाए? अगर ऐसे विशेषज्ञ जिन्होंने कभी खेत देखा तक न हो, और उनके साथ मिल कर मीडिया पूरा नैरेटिव तय करता है, तो इसका नुक़सान हमें लाज़िमी तौर पर होगा ही। हालात की गम्भीरता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि फ्रांस में इन गर्मियों में तापमान चण्डीगढ़ के तापमान से ज़्यादा था। 2019 सबसे गर्म वर्ष रहा है पिछले 145 सालों में जब से उन्होंने यह आकलन शुरू किया है। सागरों का जो विनाश किया गया है, आर्कटिक का जो विनाश हुआ है, वह सब ग्लोबल वार्मिंग का कारण बन रहा है। इस लिहाज़ से समय आ गया है कि हम नैरेटिव बदलें। मुश्किल यही है कि भारत में इन प्रश्नों के इर्द-गिर्द नैरेटिव नहीं बन पा रहा है।

अरुण कुमार : मेरा मानना है कि पिछले 250 सालों में पूँजीवाद इसलिए सफल रहा है कि उसने अपने आप को परिस्थितियों के मुताबिक़ ढालने में कामयाबी हासिल की है। जब भी कोई संकट आता है, वह उससे निबट लेता है। 1928 में कितना ज़बर्दस्त संकट था, उस पर पार पाने में वह सफल रहा। 2007-2008 का वित्तीय संकट भी भीषण था। वह उससे भी निकल गया। इसी आईने

में हमें देखना चाहिए कि वह युनिवर्सल बेसिक इनकम की बात क्यों कर रहा है, और वर्ल्ड बैंक की लाइन क्यों बदल गयी है। जो अर्थशास्त्री एक फ़्री लंच देने के लिए तैयार नहीं थे, वे अब विषमता के बढ़ने की बात कर रहे हैं। ऐसी बातें पहले भी होती रही हैं। फ़ोर्ड मोटर्स के संस्थापक फ़ोर्ड साहब ने 1911 में कहा था कि उनकी कार का उत्पादन बड़े पैमाने पर तब हो पाएगा जब उनकी फ़ैक्ट्री में काम करने वाला श्रमिक भी कार ख़रीदने की स्थिति में होगा। अगर वह नहीं ख़रीदेगा, तो कारें उतनी बड़ी संख्या में नहीं बन पाएँगी। इसी तरह 2012 में जॉर्ज सोरोस ने कहा था कि मेरी सेक्रेटरी मुझसे ज़्यादा टैक्स देती है, और यह ग़लत है। अमेरिका में अमीरों को ज़्यादा टैक्स देना चाहिए। सोरोस की इस बात का समर्थन जर्मनी, इटली और फ्रांस के अमीरों ने भी किया था। अभी जॉर्ज सोरोस ने सात-आठ महीने पहले फिर कहा कि हम लोग बहुत कम टैक्स देते हैं। इसके कारण पूँजीवाद में संकट पैदा होता है, और उस समस्या को हमें हल करना है। तो, मेरा मानना है कि ये युनिवर्सल बेसिक इनकम की बात करने वाला पूँजीवाद समझ रहा है कि संकट बहुत ज़बर्दस्त है और इसको सिर्फ़ आमदनी के वितरण से हल किया जा सकता है। देखिए, यह काम प्रोडक्शन स्ट्रक्चर के दायरे में नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ ऑटोमेशन के कारण बेरोज़गारी बढ़ती जा रही है। बहुत से लोग रोज़गार के दायरे से बाहर हो गये हैं, और बहुतों के पास केवल आंशिक प्रकार का रोज़गार है। इसलिए तरीक़ा यही बच गया है कि आप किसी न किसी तरह उनकी जेब में कुछ आदमनी डालें। यही कारण है कि युनिवर्सल बेसिक इनकम पर स्विटज़रलैंड में जनमत संग्रह हुआ, फ़िनलैंड में उसे प्रयोग के तौर पर लागू किया जा रहा है, और अब इस पर भारत में भी बात चल रही है। अरविंद सुब्रह्मण्यम ने 2016 के आर्थिक सर्वेक्षण में इसका चर्चा की थी। समझने की बात है कि युनिवर्सल बेसिक इनकम को पूँजीवाद के ज़बर्दस्त संकट के एक प्रस्तावित हल के तौर पर देखा जा रहा है। यह संकट आय का भी है, रोज़गार का भी है, और प्रोडक्शन का भी है।

भारत को ग्रोथ मॉडल के संबंध में जो समझ थमाई गयी है, उसका बड़ा हिस्सा अब पश्चिम के देशों में भी प्रश्नांकित होने लगा है। जब से नयी सरकार आयी है, और वित्त मंत्री निर्मला सीतारमन ने जो रियायत का पैकेज घोषित किया है, उसके आधार में समझ यह है कि अगर कॉरपोरेट टैक्स घटाया जाएगा तो निवेश बढ़ेगा। और, अगर निवेश नहीं बढ़ा तो नौकरियाँ नहीं बढ़ेंगी। ... ट्रम्प ने अमेरिका में ऐसा ही किया था। कॉरपोरेट टैक्स घटाए थे। लेकिन, न रोज़गार बढ़ा, और न ही निवेश। पिछले चार साल से वहाँ ऐसी ही स्थिति है। पर, हम भारत में वही कर रहे हैं जिसमें अमेरिका को कामयाबी नहीं मिली।

अब आप देखें वर्ल्ड बैंक की लाइन कैसे बदली ? 1968 में मैकनमारा साहब के हाथ में बैंक की कमान आयी। वियतनाम वार चल रहा था। उस समय विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला गया कि ग़रीबी से साम्यवाद बढ़ने का अंदेशा रहता है। तो, वियतनाम ग़रीब है, तो हमें ग़रीबी हटानी होगी। वर्ल्ड बैंक ने यह लाइन अपना ली। इसी तर्ज़ पर भारत में भी 1971 में 'ग़रीबी हटाओ' का नारा दिया गया। जब वियतनाम का युद्ध ख़त्म हो गया, और जब उन्हें लगा कि उनका संकट हलका हो गया है तो उन्होंने ब्राज़ीलियन मॉडल अपना लिया जो दरअसल मुक्त व्यापार का मॉडल था। उसमें संकट आया 1982-84 में, जब सारे लैटिन अमेरिकी देश क़र्ज़ में फँस गये और बैंक ढहने लगे तो उन्होंने फिर से मॉडल बदला। देखा कि दक्षिण एशियायी देशों के मॉडल को आर्थिक कामयाबी मिल रही है,

टाइगर्स आगे आ रहे हैं। वह मुक्त बाज़ार का मॉडल नहीं था। उसे बाज़ार के प्रति राज्य के दोस्ताना रवैये (मार्किट फ्रेंडली स्टेट इंटरवेंशन) का नाम दिया गया। यानी बाज़ार को समर्थन देने के लिए सरकार उपयुक्त हस्तक्षेप करती दिख रही थी। तब वर्ल्ड बैंक ने यह लाइन लेनी शुरू की। इसका मतलब था कि राज्य का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप तो हो, पर मज़दूरों के पक्ष में नहीं बल्कि बाज़ार के पक्ष में। यानी दामों को बाज़ार पर छोड़ना होगा, सब्सिडी नहीं दी जाएगी, न्यूनतम वेतन नहीं होगा। 1991 में भारत ने भी यही लाइन अपनायी। आपने देखा कि उन दिनों स्टॉक मार्किट में बहुत ज़्यादा उछाल आ गया था। लोगों ने डर व्यक्त किया कि इस तरह से मार्किट के ढह जाने का ख़तरा पैदा हो जाएगा। 1997 में कंटेजियन (एक अर्थव्यवस्था के संकट का आपस में जुड़ी दूसरी अर्थव्यवस्थाओं पर असर पड़ना) आ गया। पर, एलन ग्रीनस्पॉन ने आश्वस्त किया कि डरिए मत, मार्किट में स्वयं-संशोधन करने की क्षमता होती है। लेकिन 2007-2008 में संकट पैदा हुआ और मार्किट ढह गये तो ग्रानस्पॉन को सीनेट की सुनवाई के दौरान मानना पड़ा कि वे ग़लत थे। बाज़ार में स्वयं-संशोधन की क्षमता नहीं होती। नतीजा यह निकला कि पूँजीवाद बाज़ार में राजकीय हस्तक्षेप लाज़िमी होने के निर्णय पर पहुँच गया। फिर नयी लाइन आयी। इस तरह बार-बार पूँजीवाद अपनी लाइन बदलता रहा है।

तो मेरा मानना है कि युनिवर्सल बेसिक इनकम की लाइन पूँजीवाद की नयी लाइन है, संकट से निबटने के लिए। जलवायु के ऊपर संयुक्त राष्ट्र की रपट आयी है कि ग्लोबल वार्मिंग हो रही है, समुद्रों का ताप बढ़ रहा है, समुद्र प्लास्टिक के द्वीपों में बदलते जा रहे हैं। इतना ज़्यादा प्रदूषण हो रहा है। जैव-विविधता ख़त्म हो रही है। अर्थात् अब युनिवर्सल बेसिक इनकम के साथ-साथ जलवायु के सरोकारों की बात भी की जाएगी। अभी तक ये सब बातें नहीं होती थीं। अब लग रहा है कि अगर जलवायु इसी तरह से बिगड़ती रही तो पूँजीवाद टिक नहीं पाएगा।

यहाँ मुश्किल यह है कि अपनी उत्तरजीविता के लिए पूँजीवाद जो कुछ कर रहा है, उसके पीछे कोई बुनियादी बदलाव करने की मंशा नहीं है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जो लोकोपकारी राज्य उभरा था, उसमें मज़दूर की ताक़त बढ़ी थी। लेकिन, यहाँ पूँजीवाद जिस राजकीय हस्तक्षेप की बात कहता है, वह पूँजी के वर्चस्व को और मज़बूत करने की तरफ़ बढ़ना है। इस प्रक्रिया को मैं बाज़ारीकरण को और प्रोस्ताहन देना कहता हूँ। पूँजी लगातार मज़बूत हो रही है, और श्रमिक की स्थिति में गिरावट आ रही है। पूँजी के वैश्विक प्रवाह के तहत टैक्सों में कटौती करवाई जाती है ताकि पूँजी का बहाव कम टैक्सों वाली अर्थव्यवस्था की तरफ़ हो सके। इसे 'रेज़्ड टू द बॉटम' का नाम दिया गया है। मसलन, 1991 में सोवियत संघ ढहने के बाद पूर्वी युरोप ने जब टैक्स घटाए गये तो पूँजी उधर जाने लगी। उसके कारण जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन को भी टैक्सों में कटौती करनी पड़ी। इसका नतीजा यह लोकोपकारी राज्य पर हमले के रूप में निकला। राज्य के पास संसाधनों की कमी हो गयी। स्वास्थ्य, शिक्षा वग़ैरह जैसे सोशल सेक्टर के ख़र्चों में कमी की जाने लगी।

यही काम हमारे यहाँ हो रहा है। कॉरपोरेट टैक्सों में कटौती की गयी है। दलील यह है कि अगर हमारी दर का मिलान कोरिया और थाइलैंड जैसे देशों की टैक्स-दर से मिलान नहीं होगा, तो हमारे यहाँ पूँजी नहीं आएगी। दूसरी बात 'बेप्स' यानी बेस इरोज़न-प्रॉफ़िट-शिफ़्टिंग को समझने की है। इसका मतलब यह हुआ कि कम्पनियाँ अपने आप को वहाँ इनकॉरपोरेट कर रही हैं जहाँ टैक्स रेट कम है। दुनिया में नब्बे टैक्स हैवन हैं। एक ग्लोबल फ़ाइनेंशियल आर्किटेक्चर है जिसके चलते टैक्स हैवन से पैसा निकाल लिया जाता है। भारत से भी बहुत बड़ी मात्रा में पैसा जाता है। फिर राउंड ट्रिप में मॉरिशस, दुबई के ज़रिये वापस आता है। ओबामा साहब जब आये थे तो उन्होंने कहा था कि पूँजी की इस शिफ़्टिंग से अमेरिका को सौ अरब डॉलर का नुक़सान हो रहा है। अब ओईसीडी देश कह रहे हैं कि हमें बेप्स को नियंत्रित करना है। हाल ही में आयरलैंड में गूगल पर एक ज़ुर्माना लगाया गया था, जिसका वहाँ की सरकार ने विरोध किया।

मतलब यह है कि यह पूरा संकट इंटरनेशनल फ़ाइनेंस कैपिटल का है। वही सारा कुछ नियंत्रित कर रही है। उसी का प्रभुत्व है। उसने दुनिया के देशों से नीति संबंधी हेरफेर करके कुछ गुंजाइश निकालने की सम्भावनाएँ ख़त्म कर दी हैं। भारत में राजकोषीय घाटा ग़रीबी ख़त्म करने के लिए महत्त्वपूर्ण है, पर उसका आग्रह है कि इस घाटे को कम रखना ज़रूरी है न कि ग़रीबी ख़त्म करना। भले ही ग़रीबों का खाना मिले या न मिले, किसानों के लिए दिक़्क़तें भले ही बढ़ती रहें। लेकिन, हर हालत में राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करना है। ज़ाहिर है कि भारत में पॉलिसी स्पेस ख़त्म हो गया है। भारत में सरकार के पास ऐसी नीतियाँ चलाने की क्षमताएँ नहीं रह गयी हैं जिनसे आम नागरिक को लाभ मिल सकता हो। भारत में बड़े पैमाने पर जो विषमता बढ़ी है, उसके पीछे अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी का यही डिज़ाइन काम कर रहा है। युनिवर्सल बेसिक इनकम हो या जलवायु-परिवर्तन से जुड़ी चिंताएँ हों— वे भी इसी पॉलिसी स्पेस के ख़ात्मे की देन हैं। चूँकि और कुछ तो नहीं कर सकते, इसलिए युनिवर्सल बेसिक इनकम का फ़ंडा लागू करने की बात होने लगी है। इससे कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आने वाला।

इस संदर्भ में राजनीतिक दलों की स्थिति भी ग़ौर की जानी चाहिए। 1991 से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता पर कोई भी दल क़ाबिज़ हो, आर्थिक नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। कांग्रेस आयी, फिर यूनाइटेड फ्रंट आया। वहाँ चिदम्बरम साहब थे वित्त मंत्री। फिर एनडीए-1 आया, फिर यूपीए-1 और यूपीए-2 आया। पर नीतियाँ वहीं की वहीं रही। मोदी साहब उसी सिलसिले को और तेज़ कर रहे हैं। क्षेत्र कोई भी हो। मसलन, शिक्षा को लें— जो कपिल सिब्बल ने शुरू किया था, वही अभी भी चल रहा है। दरअसल, नीतियाँ अब राष्ट्रीय सरकार के हाथ में नहीं हैं, बल्कि वे तो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के हाथ में हैं। इसीलिए आज की तारीख़ में अपने देश में ग़रीबी-उन्मूलन की नीतियों के बजाय मूडीज़ की रेटिंग अहम हो जाती है, स्टैंडर्ड ऐंड पुअर की रेटिंग महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

आदित्य ने राजनीतिक दलों से संबंधित जो सवाल उठाया था, उसे इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसीलिए विरोधी दल कोई बुनियादी सवाल नहीं उठाते। आज डि-ग्रोथ की बात नहीं होती, क्योंकि अभी भी ग्रोथ ही पूँजीवाद के मॉडल का इंजन है। राजनीतिक दल भी इसी चक्कर में फँसे हुए हैं। वर्ना उन्हें 2019 में चुनाव के मौक़े का लाभ उठा कर कहना चाहिए था कि रेट ऑफ़ ग्रोथ पाँच, छह या सात फ़ीसदी न हो कर ज़ीरो है। अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर नकारात्मक है। लेकिन, वे यह कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाए, क्योंकि उनके व्यापारिक हित भी इसी तंत्र से जुड़े हुए थे। उनके समर्थकों के भी। अगर वे कहते कि ग्रोथ रेट एक प्रतिशत है, या शून्य है, तो बाज़ार ढह जाते, और विपक्षी दलों के आर्थिक हितों पर भी चोट लगती। इसलिए उन्हें यह सब कहने की हिम्मत नहीं हुई। ज़ाहिर है कि अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के इस निज़ाम में राजनीतिक दल भी शामिल हैं।

हमारे लोकतंत्र की मौजूदा हालत में राजनीतिक नैरेटिव और आर्थिक नैरेटिव अलग-अलग ढंग से बनाया और चलाया जाता है। राजनीतिक नैरेटिव के तहत कहा जाता है कि राष्ट्र ख़तरे में है, और यह ख़तरा 'अन्य' से है। इस ख़तरे से निबटने के लिए हमें एक मज़बूत नेता चाहिए। ऐसे राजनीतिक नैरेटिव के प्रभाव में होता यह है कि आर्थिक नैरेटिव हाशिये पर चला जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसा कब तक होता रहेगा? आख़िर कब तक ऐसा चलाया जा सकता है? राज्यों के चुनावों में तो लगता है कि शायद कुछ आर्थिक नैरेटिव की गुंजाइश बनेगी, पर केंद्र में मौजूदा सरकार अपना वर्चस्व बनाए हुए है। इस समय संसद में उनका प्रभाव पहले से अधिक है। तो, मुद्दा यह है कि क्या दीर्घकालीन अवधि में यह नैरेटिव बदलेगा? पब्लिक कब आर्थिक प्रश्न को प्रमुखता देगी? और, अगर पब्लिक इसे प्रमुखता नहीं देगी, तो राजनीतिक दल भी उसे नहीं उठाएँगे।

जनता के बीच जाने की कुछ समस्याएँ हैं और उन पर ग़ौर करना ज़रूरी है। हम जानते हैं कि जितनी भी वैकल्पिक शक्तियाँ हैं, उन्हें साथ आना पड़ेगा। अभी होता यह है कि जनता की गोलबंदी

एक मुद्दे पर फँस जाती है। एनजीओ एक ही मुद्दे पर काम करते हैं। जब हमने वैकल्पिक बजट बनाया था, उस समय 1994 में नैशनल एलायंस फ़ॉर पीपुल्स मूवमेंट (एनएपीएम) बना था। एनएपीएम में जितने भी समूह हैं, वे अपने-अपने मुद्दे उठाते हैं। एक-दूसरे को लिखित में समर्थन देते हैं, पर सक्रिय भागीदारी नहीं करते। जबकि, भागीदारी बहुत ज़रूरी है। उसके बिना परिप्रेक्ष्य व्यापक नहीं होता। उस समय हम लोगों ने एक नारा भी दिया था— 'वी हैव टू वाइडेन ईच अदर्स एक्टिविज़्म'। इस समय लोग बहुत परेशान हैं। किसान परेशान हैं, ट्रेड यूनियनें परेशान हैं। बाक़ी चीज़ें देख लीजिए। नर्मदा बचाओ आंदोलन है, विस्थापन का सवाल है। इतना बड़ा प्रोजेक्ट है, विस्थापन एक बड़ा फलितार्थ है उसका। जैसा कि देविंदर शर्मा ने कहा कि वर्ल्ड बैंक का एजेंडा है। उसके ख़िलाफ़ हम तभी कुछ कर सकते हैं जब एक व्यापक विकल्प सामने लेकर आयें। जनता को शिक्षित करें।

आज हुआ यह है कि लोगों का इतिहास-बोध ख़त्म कर दिया गया है। लोग नहीं समझ पाते हैं कि क्या वास्तविक है और क्या आभासी है। दोनों के बीच फ़र्क़ करना मुश्किल है। कुछ भी कह दीजिए। वही यथार्थ हो जाता है। अतीत बदल दिया जाता है। लोगों को प्रभावित करने की तरक़ीबें खोज ली गयी हैं। शिक्षा की बहुत बड़ी भूमिका है। आंदोलन और एकता की बहुत बड़ी भूमिका है। यह सब कैसे होगा, यह हम सबको मिल कर सोचना है। आगे कैसे बढ़ना है, यह तय करना है।

अनिल शर्मा : जहाँ से प्रोफ़ेसर अरुण कुमार ने छोड़ा है, मैं वहीं से शुरू करूँगा। हम समाज के अंदर शिक्षा के ज़रिये रिफ़ॉर्म ला सकते हैं। एकता के ज़रिये ला सकते हैं। लेकिन चुनौती है कि यह कैसे होगा? जो ताक़तें सारी दुनिया के बारे में फ़ैसले ले रही हैं, उनके सामने कौन खड़ा होगा? उनकी नीतियों के कारण वंचित तबक़ा तक़लीफ़ उठा रहा है। वह कैसे खड़ा हो सकता है— यह एक बहुत बड़ी चुनौती है। भविष्य में ऐसा कुछ होगा, मुझे तो नहीं लगता। चिली को देखिए, वहाँ संकट चल रहा है। बड़ी ज़बर्दस्त फ़ाइट है वहाँ पर। लेकिन, अच्छी बात यह है कि उनके सेलेब्रिटी भी आंदोलन में भाग ले रहे हैं। पब्लिक का साथ दे रहे हैं। ऐसी परिस्थिति बने दुनिया में, तो शायद जिस रिफ़ॉर्म की बात हो रही है, वह धरती पर उतर पाएगा। फिर चाहे पर्यावरण से या राजनीति से या आर्थिक नीति से संबंधित मामले हों, शायद हम कुछ कर पाएँ। लेकिन, जब तक ऐसी परिस्थिति नहीं बनती, मुझे संदेह है कि कुछ हो पाएगा।

इस समय चारों तरफ़ बुरी हालत है। उद्योगों को देखिए, उनके ज़्यादातर प्रोजेक्ट फ़ेल हो रहे हैं। सरकारी क्षेत्र की हालत भी ख़राब है। सरकारी मशीनरी को लकवा मारा हुआ है। हम जिस परिणाम की उम्मीद करते हैं, वह नहीं निकलता। प्रौद्योगिकी की बात कर लीजिए। जो लोग टेक्नॉलॉजी ले कर आते हैं, वे उससे खेलते हैं और निजी अहम की संतुष्टि के लिए उसका इस्तेमाल करते हुए दिखते हैं। ऐसे लोग नब्बे फ़ीसदी हैं। ये लोग अपने हितों के लिए, अपने अहंकार के लिए तरह-तरह के दावे करते हैं। एक डॉक्टर कहता है कि उसने दिल के इतने ऑपरेशन कर दिये, हज़ारों के घुटने बदल दिये— पर यह नहीं पता लगता कि इसमें कितने केसों में कामयाबी मिली, कितने प्रतिशत लोग चल सके? डेटा और हक़ीक़त में मिलान नहीं है। हमारा पास कोई भी डेटा शुद्ध रूप में नहीं पहुँचता। यह समस्या हर जगह है। अर्थशास्त्र में, शिक्षा में, राजनीति में। हर जगह।

राजनीतिक वर्ग ने मीडिया और न्यायपालिका को पूरी तरह नियंत्रित कर रखा है। दोनों, प्रबंधित हो चुके हैं। कॉरपोरेट सेक्टर का पैसा लगा हुआ है। यह सेक्टर राजनीति को भी नियंत्रित कर रहा है। इसलिए जो भी नीति बनती है, वह कॉरपोरेट सेक्टर के लिए ही बनती है। चाहे आयकर हो या जीएसटी हो। उसे ही रिबेट मिलेगा। जीएसटी से पहले बहुत सी चीज़ें थीं, जिन पर टैक्स नहीं लगता

था। अब वे भी जीएसटी में आ गयी हैं। मसलन, टैक्स ब्रांडेड आटे पर लगना चाहिए, लेकिन अगर बोरे पर नाम लिख दिया गया है तो वह भी जीएसटी के दायरे में आ जाएगा। जूट, धान और गेहूँ को भी जीएसटी के तहत लाने की बात चल रही है। दूसरी तरफ़ महीने-दर-महीने जीएसटी का कलेक्शन कम होता जा रहा है। पहले वैट के तहत जो मार्केटिंग टैक्स लगता था, अब उसको भी जीएसटी के भीतर लाने की चर्चा हो रही है। चूँकि सरकारी मशीनरी करों की वसूली नहीं कर पा रही है, इसलिए राजस्व बढ़ाने के लिए नये-नये तरीक़े तलाशे जा रहे हैं ताकि संसाधन बनाए जा सकें। ये मुद्दे बने रहेंगे। दरअसल, जब तक दिक़्क़तें उठाने वाला कमज़ोर तबक़ा पूरी ताक़त के साथ संघर्ष में नहीं उतरता, तब तक मुझे तो इन समस्याओं का समाधान होता हुआ नहीं दिखता।

अरुण कुमार : मैं एक छोटी-सी बात कहूँगा। अर्थव्यवस्था में संसाधन कम होने की बात जो कही जाती है, उसके बारे में हमें समझना होगा कि जो भी संसाधन हैं वे किसके लिए हैं। तीन फ़ीसदी लोग प्रभुत्वशाली है, वे युरोपीय जीवन-शैली में जीना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि नब्बे फ़ीसदी जीडीपी उनके हाथ में रहे। दरअसल, प्रदूषण की समस्या और स्रोतों की कमी अभिजात्य वर्ग की देन है। वही इन समस्याओं का कारण है। बाक़ी लोग इन समस्यायों से पीड़ित हैं, वे इन समस्याओं के कारण नहीं हैं। ये बाक़ी लोग भी चाहते हैं कि उनका उपभोग भी कुछ बढ़ना चाहिए। हमें सोचना होगा कि इन लोगों तक हमारी बात कैसे पहुँचे। बताना पड़ेगा कि यह विषमता कहाँ से आ रही है।

देविंदर शर्मा : प्रोफ़ेसर साहब की यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। अकसर कहा जाता है कि हमारे पास वित्तीय संसाधन कम हैं, इसलिए हमें राजकोषीय घाटा नहीं बढ़ने देना चाहिए। मैंने अभी हाल ही में कौशिक बसु का एक ट्वीट देखा जिसमें वे बताते हैं कि अमेरिका ने क्वांटिटेटिव ईज़िंग प्रोग्राम (मुद्रा छापने के ज़रिये के ज़रिये अर्थव्यवस्था में नक़दी की मात्रा बढ़ाना) 36 अरब डॉलर का अतिरिक्त धन पैदा किया है। यह धन फ़ेडरल बॉण्ड्स के ज़रिये अमीर लोगों में बाँटा गया है। इस पर ब्याज की दर डेढ़ फ़ीसदी है। यही पैसा भारत, ब्राज़ील और साउथ अफ्रीका के स्टॉक मार्किट में लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि अगर फ़ेड को छींक आ गयी, तो भारत में लोगों की बुख़ार आ जाएगा। वे जैसे ही थोड़ा सा ब्याज बढ़ाने की बात करते हैं, सारी दुनिया में क़यामत जैसी बात होने लगती हैं। फेड के चेयरमैन ने कहा है कि जैसा चल रहा है, उसे वैसा ही चलने दीजिए। क्यों न हो, उनके लोगों को तो 36 अरब डॉलर मिल ही गये हैं! मुझे याद है कि 2009 के विश्व आर्थिक मंच में आयी ऑक्सफ़ेम की रपट में बताया गया था कि इन लोगों की एक साल में 26 अरब डॉलर की सम्पत्ति बढ़ी है। रपट में लिखा है कि इस धन से दुनिया में ग़रीबी चार बार ख़त्म की जा सकती है! और अमेरिका ने तो 36 अरब डॉलर अतिरिक्त पैदा किया है जिससे ग़रीबी का कई बार उन्मूलन किया जा सकता है।

युरोप पर नज़र डालिए। वहाँ भी यही चल रहा है। चीन को देखिए— वहाँ भी यही हो रहा है। अंतर केवल यह है कि वहाँ नाम बदल गया है। क्वांटिटेटिव इज़िंग का नाम वहाँ एमआई-5 जैसा कुछ रख दिया गया है, जैसे कि वह किसी हैलिकॉप्टर का नाम हो। अगर हम भी इसी तरीक़े से पैसा सरप्लस करें तो क्यों न उसका इस्तेमाल ग़रीबी और भूख़ के उन्मूलन में किया जाए? उससे रोज़गार पैदा किये जाएँ? दरअसल, क्वांटिटेटिव इज़िंग को आम जनता के लिए इस्तेमाल करने की ज़रूरत है। इस आंदोलन का कुछ अर्थशास्त्रियों ने समर्थन तो किया है, पर यह बात अभी तक लोगों की ज़ुबान पर नहीं चढ़ी है। एक तरह से क्वांटिटेटिव इज़िंग लोगों के लिए एक मुश्किल अवधारणा बनी

हुई है। मैं भारत में एक टीवी शो में मैक्रो इकॉनॉमिक पॉलिसी पर बोल रहा था। मैंने फ़ेडरल क्वांटिटेटिव इज़िंग इन सरप्लस मनी की चर्चा की तो एंकर ने वहाँ तो ठीक कहा, पर ब्रेक में पूछा कि सर क्या यह वाक़ई में सरप्लस मनी होता है? आपने अगर ग़लत कहा तो मेरी नौकरी चली जाएगी। इस तरह बात यह है कि इसकी चर्चा क्यों नहीं कि हमारे देश में इसकी क्या भूमिका हो सकती है।

दरअसल, हमें शब्दावली पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अगर अब ग़रीब को सब्सिडी देने की बात करेंगे, तो उसकी निंदा की जाएगी कि यह धन बेकार जाएगा। लेकिन अगर यही पैसा कॉरपोरेट क्षेत्र को दिया जाएगा तो इसे वृद्धि के लिए प्रोत्साहन की संज्ञा दी जाएगी। अगर मैं क़र्ज़ चुकाने में चूक करता हूँ तो मैं डिफ़ॉल्टर कहलाऊँगा। लेकिन कॉरपोरेट डिफ़ॉल्ट करेंगे तो उसे एनपीए कहा जाएगा।

आदित्य निगम : शुक्रिया आप सब का। बहुत अच्छी बातचीत रही। थोड़ा-सा मलाल रह गया है कि जो मसले टी.के. अरुण ने उठाए थे, उन पर थोड़ी और बातचीत हो पाती। लेकिन, जो कुछ भी हुई उसमें दो स्तर पर सवाल उठे हैं। एक तो लम्बी मियाद वाले संरचनात्मक सवाल हैं, जो विकास के मॉडल से, पूँजीवाद वग़ैरह से ताल्लुक़ रखते हैं। दूसरे, नोटबंदी या जीएसटी जैसे सवाल इस सरकार, इस निज़ाम के आने के बाद उभरे हैं। एक स्तर पर मुझे लगता है कि हम लोगों की आम राय यह बनी है कि शायद बहुत-सी समस्याओं का हल इन दोनों पहलुओं के असरात और उनसे उपजी समस्याओं के हल से अलग नहीं होंगे।

मैंने बात शुरू की थी पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के लेख से। उसमें दहशत की बात कही गयी है। इस निज़ाम की एक ख़ासियत यह मानना है कि चाहे आम शहरी हो, कॉरपोरेट हो, चाहे कोई भी हो— यानी हर आदमी, हर औरत किसी न किसी रूप में भ्रष्ट है। और, जब तक आप अपनी मासूमियत साबित नहीं कर देते, तब तक यह निज़ाम मान कर चलता कि आप शक के दायरे में हैं। मेरे ख़याल में इसी वजह से दहशत के माहौल और संस्थाओं से भरोसा उठने की बात की गयी है। मेरे ख़याल से यह काफ़ी अहम बात है।

ज़ाहिर है कि लम्बी मियाद के सवाल अल्पकाल में हल नहीं होते। लेकिन यह ज़रूर है कि इनकी वजह से हमारे मौजूद हालत बहुत ख़राब हो चुके है। बैंकिंग सेक्टर को देखिए। हमें ख़ुद नहीं मालूम कि हमारी अपनी ज़िंदगी की जो कमाई है वह अगले चार-पाँच साल में बची रहेगी या नहीं? कुछ बैंक तो हमारी आँखों के सामने तबाह हो गये हैं। कई लोग ख़ुदकुशी कर चुके हैं। यह एक और क़िस्सा है। सवाल यह है कि इसका जो राजनीतिक असर है उसमें किस तरह राजनीतिक हस्तक्षेप किया जाए कि सूरत बदले। ऐसा कुछ होता दिखाई नहीं दे रहा है।

अरुणजी की बात से यह ज़रूर लगा कि शायद उनका पार्टी की संरचना पर ज़्यादा भरोसा नहीं रह गया है। मेरे ख़याल से आंदोलन का या जन-चर्चा का अथवा जनमत बनाने का जो मसला है वहाँ नैरेटिव की ज़रूरत है, और नैरेटिव है कि फ़िलहाल बन नहीं रहा है। अगर इस पर चर्चा की जाए तो हो सकता है कि इस राजनीतिक गतिरोध से निकलने का कोई रास्ता तलाशा जा सके।

शुक्रिया।